ए. के. गांधी

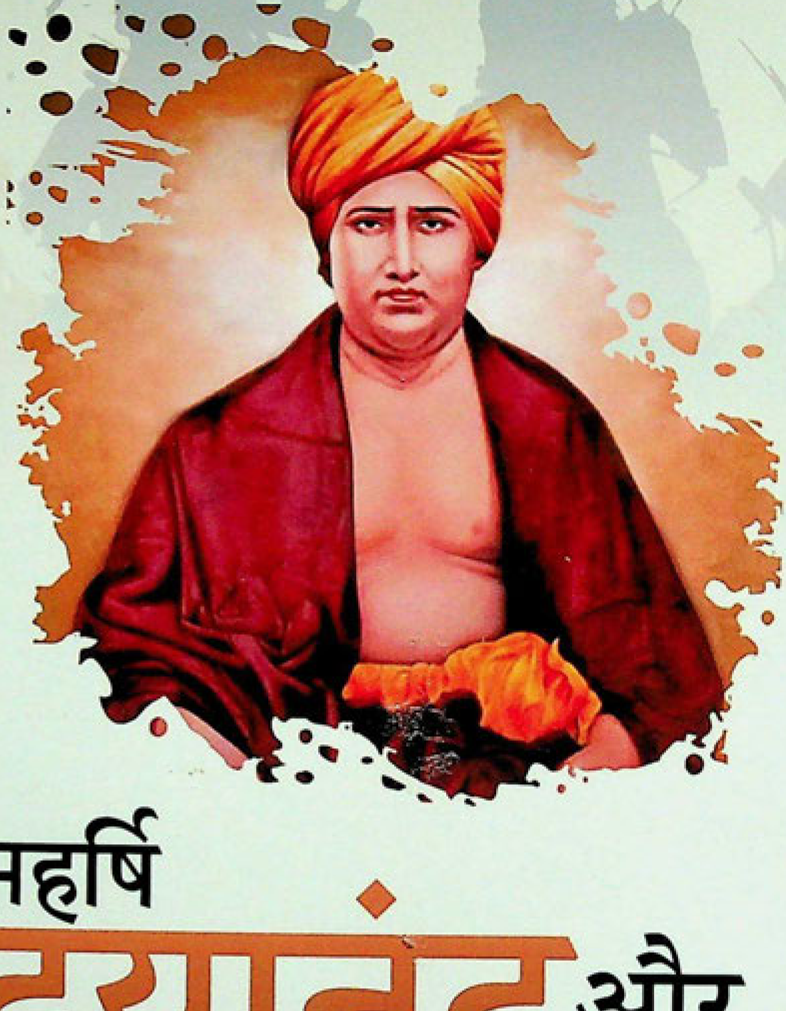

महर्षि दयानंद और 1857 क्रांति

ATLANTIC

महर्षि दयानंद और 1857 क्रांति

ए. के. गांधी

ATLANTIC
PUBLISHERS & DISTRIBUTORS (P) LTD

ATLANTIC
PUBLISHERS & DISTRIBUTORS (P) LTD

7/22, Ansari Road, Darya Ganj, New Delhi
Tel.: +91-11-40775252, 40775213
E-mail: orders@atlanticbooks.com
Web: www.atlanticbooks.com

All rights reserved. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system, transmitted or utilized in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the copyright owner. Application for such permission should be addressed to the publisher.

Published by Atlantic Publishers & Distributors (P) Ltd 2024

Copyright © A.K. Gandhi, 2024

Disclaimer

- The author and the publisher have taken every effort to the maximum of their skill, expertise and knowledge to provide correct material in the book. Even then if some mistakes persist in the content of the book, the publisher does not take responsibility for the same. The publisher shall have no liability to any person or entity with respect to any loss or damage caused, or alleged to have been caused directly or indirectly, by the information contained in this book.
- The author has fully tried to follow the copyright law. However, if any work is found to be similar, it is unintentional and the same should not be used as defamatory or to file legal suit against the author.
- If the readers find any mistakes, we shall be grateful to them for pointing out those to us so that these can be corrected in the next edition.
- All disputes are subject to the jurisdiction of Delhi courts only.

Printed & bound in India by Atlantic Print Services

MAHARISHI DAYANAND AUR 1857 KRANTI (*in Hindi*)
By A.K. Gandhi

उठता है पर्दा अब उस रहस्य से. . .
कौन था वह रहस्यमयी हिन्दू फकीर. . .
कौन था वह क्रांतिदूत. . .
जिसने 1857 की क्रांति भड़काई. . .

प्राक्कथन

1857 की क्रांति भारत में न पहली थी, न ही आखिरी। अन्य क्रांतियां अधिकांशतः स्थानीय या क्षेत्रीय स्तर पर हुई थी, साथ ही उनमें एक वर्ग के लोगों ने भाग लिया था, जैसे वेल्लोर में 1806 का विद्रोह केवल सिपाहियों द्वारा आरंभ किया गया था, अन्य वर्ग उसमें सम्मिलित नहीं हुए थे। इसी प्रकार 1804–17 ईसवीं में उड़ीसा (ओडिशा) में होने वाली क्रांति केवल जमींदारों द्वारा हुई थी। लगभग यही बात अन्य सभी विद्रोहों व क्रांतियों के बारे में कही जा सकती है। इन सब की तुलना में 1857 का विप्लव एक समग्र क्रांति के रूप में था जिसमें हिन्दू व मुस्लिम, सिपाही व आमलोग, जमींदार व रजवाड़े, किसान व आदिवासी – सभी ने बराबर भागीदारी की थी, और यही कारण है कि इसे प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम कहा जाता है।

यह क्रांति विश्व की प्रमुख क्रांतियों में से एक है, लेकिन इसके बारे में सबसे हैरान करने वाली बात यह समझी जाती है कि इसे किसी ने नेतृत्व प्रदान नहीं किया, किसी व्यक्ति विशेष ने इसे आरंभ नहीं किया। हां, कुछ नेताओं के नाम क्षेत्रीय स्तर पर अवश्य लिए जाते हैं जैसे रानी लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे, बाबू कुंवर सिंह, बख्त खान, नाना साहब पेशवा, बेगम हजरत महल; और कुछ नाम स्थानीय स्तर पर लिए जाते हैं जैसे धनसिंह कोतवाल, नरपत सिंह, नैन सिंह, राव कदम सिंह व शाहमल और अन्य अनेक। लेकिन आश्चर्यजनक ढंग से एक नाम इतिहास की आंखों से ओझल ही रहा है, वह भी उस व्यक्तित्व का जिसने इस क्रांति को आरंभ करने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रमाणों के आधार पर सिद्ध भी किया जा सकता है कि वह ही थे जिनके कारण यह क्रांति संभव हो पाई। कौन था यह श्रेष्ठ व्यक्तित्व जिसे इस महान क्रांति का श्रेय दिया

जा सकता है जिसने भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी राज का सर्वनाश कर भारत के इतिहास में एक नवीन अध्याय की शुरुआत की? कौन था यह कर्मठ योगी जिसने रानी लक्ष्मीबाई व मंगल पांडे जैसे नामों को हर दिल में स्थान दिलवाया, लेकिन वह स्वयं दूसरों की आंखों से ओझल ही बना रहा? यह पुस्तक इसी महान विचारक के कृतित्व को अनावरित करने का प्रयास करती है। लेखक ने गंभीर प्रयास व शोध कर इस व्यक्तित्व के बारे में प्रमाण एकत्र किए हैं और उनके इस पहलु पर काम किया है जिनके आधार पर इस पुस्तक का लेखन किया गया है। सबसे अधिक अचंभा करने वाली बात है कि यह व्यक्तित्व हम सबका जाना–पहचाना हुआ नाम है, सभी भारतीयों को उनके बारे में पर्याप्त ज्ञान है व उनके द्वारा स्थापित सिद्धांतों का भारतीय पालन भी करते हैं, लेकिन उन्होंने 1857 की क्रांति में अपने कार्य को किस प्रकार सावधानीपूर्वक छुपा कर रखा, उसके पीछे कुछ कारण अवश्य हैं; हम उन कारणों का विश्लेषण करने का प्रयास भी करेंगे।

1857 क्रांति पर यह लेखक की दूसरी पुस्तक है। पहली पुस्तक थी *1857 क्रांति व क्रांतिधरा* जो राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत द्वारा प्रकाशित लोकप्रिय पुस्तक है। जिस महान व्यक्तित्व के बारे में हम इस पुस्तक में बात करने जा रहे हैं, उनके बारे में लेखक को उस पुस्तक पर कार्य करते हुए ही ज्ञात हो चुका था, लेकिन क्योंकि वह पुस्तक मुख्य रूप से मेरठ के आम नागरिकों की क्रांति में प्रतिभागिता पर केंद्रित थी व उसे संक्षिप्त रखने की आवश्यकता थी, इसलिए इस पुस्तक का लेखन आवश्यक हुआ है। लेखक की एक अन्य प्रकाशनाधीन पुस्तक *Dance to Freedom* आंशिक रूप से 1857 क्रांति से संबंधित है जिसमें कानपुर, लखनऊ व बिहार के आंदोलन को तवायफों के दृष्टिकोण से देखा गया है। आशा है, लेखक की अन्य पुस्तकों के समान इस पुस्तक को भी पाठकों का प्रेम प्राप्त होगा।

इस पुस्तक में कुछ विशिष्ट चित्रों व एक मानचित्र को भी दिया गया है जो वर्णन को आकर्षक, सरल व समझने–योग्य बनाते हैं और जो लेखक द्वारा किए गए प्रयासों की गंभीरता को भी दर्शाते हैं।

ए.के. गाँधी

विनम्र आभारोक्ति

इस पुस्तक के लेखन में हमारी सहायता अनेक लोगों ने अपना अमूल्य समय प्रदान कर दी है। इनमें इतिहासकार, विद्वान और आम नागरिक शामिल हैं। सबसे व्यक्तिगत भेंट अन्यान्य कारणों से न हो सकी, लेकिन दूरभाष/अन्य माध्यमों पर एक से अधिक बार विस्तृत वार्ता हुई। हम उन सभी का हृदय से आभार व्यक्त करते हैं क्योंकि उनके योगदान के बिना शायद इस पुस्तक को इस स्तर पर लिखना संभव नहीं होता। निम्नलिखित लोगों को हम उनकी विशिष्ट भूमिका और सहायता के लिए विशेष रूप से धन्यवाद देते हैं–

- डॉ. सुशील कुमार भाटी, इतिहासकार।
- डॉ. के. के. शर्मा, इतिहासकार।
- डॉ. के. डी. शर्मा, इतिहासकार।
- डॉ. किरन सिंह, इतिहासकार।
- डॉ. अमित पाठक, इतिहासकार।
- डॉ. विघ्नेश कुमार, इतिहासकार।
- श्री प्रभाकर, विद्वान, अजमेर।
- श्री राजेंद्र जिज्ञासु, लेखक और विद्वान, अबोहर।
- आचार्य संजय देव, विद्वान, अजमेर।
- डॉ. गौड़, विद्वान, अजमेर।
- इं. आदित्यमुनि वानप्रस्थ, लेखक, भोपाल।
- डॉ. अखिलेश चंद्र शर्मा, विद्वान, इंदौर।
- श्री रामपाल सिंह, प्राचार्य, सीकरी हाई स्कूल, ग्राम सीकरी खुर्द।
- श्री हरबीर सिंह, ग्राम सीकरी खुर्द।
- डॉ. मनोज कुमार गौतम, राजकीय स्वतंत्रता संग्राम संग्रहालय, मेरठ।
- श्री धर्मपाल सिंह, पूर्व प्रधान, ग्राम पांचली खुर्द।
- मा. सत्तार अहमद, ग्राम बसोद।
- श्री शिवकुमार चपराना, धनसिंह कोतवाल के वंशज, ग्राम पांचली खुर्द।

- चौ. यशपाल सिंह, शाहमल के वंशज, ग्राम बिजरौल।
- श्री धर्मवीर, ग्राम गगोल।
- हरवीर सिंह तालियान, प्रधान आर्यसमाज सभा, मेरठ।
- श्री शिवकुमार शर्मा, आचार्य दीपंकर के वंशज, मेरठ।
- श्री महावीर सिंह, प्राचार्य (सेवानिवृत्त), गवर्नमेंट इंटर कॉलेज, मेरठ।
- आर्यमुनि वानप्रस्थ (लक्ष्मीचंद्र आर्य), अनुवादक, लेखक और विद्वान, मेरठ।
- ले. कर्नल अमरदीप त्यागी, मेरठ।
- श्री वेदपाल शास्त्री, स्वतंत्रता सेनानी और पूर्व प्राचार्य, दयानंद महाविद्यालय, गुरुकुल इंटर कॉलेज, ग्राम डोरली।
- विमला बहिनजी, विचारक, व्यास आश्रम, हरिद्वार।
- शांति बहिनजी, विचारक, व्यास आश्रम, हरिद्वार।
- डॉ. आर. के. भटनागर, IAS, संयोजक INTACH, मेरठ।

हम प्रशांत अग्रवाल के विशेषरूप से आभारी हैं जिन्होंने सिपाहियों द्वारा लिए गए मार्ग का स्कैच बनाने व तकनीकी अवरोधों को पार करने में सहायता प्रदान की।

मुझे अत्यंत प्रसन्नता के साथ कहना है कि दॅ बुकबेकर्स के सुहेल माथुर ने साहित्यिक अभिकर्ता के रूप में उत्कृष्ट सेवाएं दी हैं। साथ ही लेखक के रूप में मैं एटलांटिक प्रकाशन का आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने में विशिष्ट सहयोग प्रदान किया है।

हम निम्न संगठनों के भी आभारी हैं –

- परोपकारिणी सभा, अजमेर।
- INTACH (Indian National Trust for Art and Cultural Heritage), नई दिल्ली व मेरठ।
- व्यास आश्रम, हरिद्वार।
- आर्यसमाज सभा, मेरठ।
- भारतीय प्रज्ञान परिषद, मेरठ।
- ऋषि उद्यान, अजमेर।

विषय–सूची

प्राक्कथन *v*

विनम्र आभारोक्ति *vii*

1. 1857 तक 1
2. पहली चिंगारी.. 9
3. पहला बलिदान.. 19
4. एक तारे का उदय 25
5. मानसिक तैयारी 33
6. तारे का सूर्य में परिवर्तन 41
7. गुरु का वरण.. 45
8. जंगल में बैठक.. 49
9. पूर्व तैयारी और अभियान.. 55
10. क्रांतिधरा मेरठ 65
11. क्रांतिदूत का मेरठ आगमन.. 69
12. क्रांतिदूत का विफल आह्वान 77
13. ज्वालामुखी विस्फोट.. 87
14. सिपाहियों द्वारा क्रांति 91

15. क्रांतिदूत का नेतृत्व 103

16. दिल्ली चलो 111

17. क्रांतिदूत का परिचय 119

18. दिल्ली के बाद 147

19. संक्षिप्त जीवन चरित 149

20. क्रांति की शेष गाथा 159

परिशिष्ट 'क': क्रांति–गीत 183

परिशिष्ट 'ख': दंडित 85 सिपाहियों की सूची 184

ग्रंथ सूची 187

1

1857 तक

किसी क्रांति का आरंभ अचानक ही नहीं हो जाता, हालांकि ऐसा प्रतीत हो सकता है। 1857 की क्रांति भी कोई आकस्मिक होने वाली घटना नहीं थी। यदि होती तो इसका प्रभाव इतने विशाल क्षेत्र में संभव नहीं हो पाता। अंग्रेजों को इस क्रांति के आधार व विस्तार के बारे में भली–भांति ज्ञात था कि यह उनके लिए खतरे की घंटी थी, इसलिए उन्होंने इसकी महत्ता को कम करने के लिए इसे 'सिपाही विद्रोह' या 'गदर' कहा। लेकिन इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि यह क्रांति न तो सिपाहियों द्वारा आरंभ हुई, न ही समाप्त; और इसके साथ जो जनजागरण हुआ उसने भारत में स्वाधीनता आंदोलन की नींव रखी।

उचित होगा कि इतिहास के उस छोर को टटोला जाए जहां से क्रांति की संभावना का सूत्रपात होता है और जहां से इस पुस्तक का नायक सक्रिय होता है। इस महान व्यक्तित्व ने क्रांति का सूत्रपात किया, उस परिस्थिति को रचित किया जिसमें क्रांति का वास्तविक धरातल पर उतरना संभव हो पाए। कौन था यह व्यक्तित्व? पुस्तक के शीर्षक से आपको इस क्रांतिदूत का नाम तो अवश्य ज्ञात हो चुका है, लेकिन बिना प्रमाण और इस क्रांति में उनके योगदान को विस्तार से बताए बिना यह कह देना कठिन होगा, इसलिए सीधा उनका नाम लेने के लिए हम कुछ देर तक ठहरेंगे क्योंकि यह हमारे इतिहास के महान रहस्यों में से एक है। बस कुछ देर तक प्रतीक्षा करें। जब यह रहस्य प्रमाण, विश्लेषण और वर्णन के साथ आपके समक्ष खुलेगा, आप अचरज में पड़ जाएंगे कि यह और कोई नहीं बल्कि वह व्यक्तित्व था जिसे आप अच्छी तरह जानते हैं, भारत के आधुनिक इतिहास में जिसका योगदान अतुल्य है, तब तक हम उन्हें साधु

कह कर पुकारेंगे। यह कार्य उन्होंने किस प्रकार किया, वह पढ़कर आपकी अंगुली स्वयं ही दांतों तले दब जाएगी और आप कह उठेंगे – यह!!!

1857 क्रांति का विस्तार व विभीषिका को समझने के लिए आवश्यक हो जाता है कि हमें उस समय अंग्रेजों की शक्ति व नीति का ज्ञान तो हो ही, उस समय के भारत की राजनैतिक–सामाजिक परिस्थिति का भी ज्ञान हो। इसी संक्षिप्त वर्णन के साथ हम इस पुस्तक का आरंभ करते हैं।

भारत एक प्राचीन देश है। यहां का इतिहास अपने आप में अनेक रहस्यों और गाथाओं को छुपाए बैठा है। इसे मुख्यतया तीन भागों में बांटा जाता है – प्राचीनकाल, मध्यकाल और आधुनिककाल। प्राचीनकाल मुख्य रूप से हिंदूकाल था जबकि मध्यकाल का आरंभ मुस्लिम आक्रमणों के साथ लगभग आठवीं शताब्दी में हुआ तथा इसके साथ ही केंद्रीय सत्ता पर मुस्लिम हावी हुए। आधुनिककाल का आरंभ लगभग अठारहवीं शताब्दी से हुआ, मुख्य रूप से मुगल बादशाह औरंगजेब की 1707 ई. में मृत्यु के साथ। आधुनिककाल के आरंभ की मुख्य विशेषता हमारे देश में यूरोपियनों का आगमन रहा। प्राचीनकाल से ही भारत के व्यापारिक संबंध पश्चिमी देशों से रहे हैं जो अरबों के माध्यम से भूमि मार्ग से संचालित होते थे। भारत का ज्ञान पश्चिम देशों में अरबों के माध्यम से ही पहुंचा था जैसे शून्य का ज्ञान। भारत से इस प्रकार के विवरणों ने ही पश्चिमी जगत में भारत के प्रति जिज्ञासा पैदा कर दी थी और दोनों के मध्य प्रत्यक्ष संबंधों की नींव 1498 ई. में वास्को डा गामा द्वारा समुद्री मार्ग की खोज से पड़ी।

पश्चिमी देशों से भारत में आने वाले प्रथम व्यापारी पुर्तगाली थे, उनके बाद आने वाले डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज थे। इनके व्यापार को स्थानीय राजाओं से स्वीकृति प्राप्त हो गई थी जिनमें से अधिकांश उनकी आधुनिक शक्ति के सामने खड़े न रह सके। केंद्रीय सत्ता का जहां तक प्रश्न था, अंग्रेजों को आधिकारिक स्वीकृति मुगल बादशाह जहांगीर के समय प्राप्त हुई जब 1609 में कैप्टेन हाकिन्स ने दरबार में हाजिरी लगाई थी और इसके बाद 1613 में जहांगीर ने अंग्रेजों को सूरत में अपनी फैक्ट्री स्थापित करने की अनुमति प्रदान कर दी। उस समय 'फैक्ट्री' वह व्यापारिक केंद्र होती थी जहां ये व्यापारी रहा करते थे और अपने माल को रखा करते थे। इसी बादशाह के जीवनकाल में ही अंग्रेजों ने अपने लाभ का दायरा बढ़ाते हुए सूरत के अतिरिक्त आगरा, अहमदाबाद, भड़ौच और बड़ौदा में अपनी फैक्ट्रियां स्थापित कर ली थीं। अन्य स्थान जहां उन्होंने अपनी फैक्ट्रियां स्थापित की उनमें बुरहानपुर, अजमेर, पटना, कासिम बाजार, कलकत्ता

(अब कोलकाता), ढाका (अब बांग्लादेश में), बंबई (अब मुंबई) आदि शामिल थे। इसके साथ ही, अंग्रेजों ने प्रतियोगी पश्चिमी व्यापारियों को भारत में सीमित करना आरंभ कर दिया जिसके लिए उन्होंने संधियों व युद्धों, दोनों का सहारा लिया। पश्चिमी व्यापारी बहुत ही चतुर व चालाक थे। उन्होंने अपनी सरकारों से युद्ध व संधि करने तक की अनुमति ले रखी थी।

औरंगजेब के गद्दी पर आने के साथ ही मुगल शासन के पतन की नींव भी रखी जा रही थी क्योंकि उसने धार्मिक असहिष्णुता की नीति अपनाई थी, विशेषकर हिंदुओं पर जजिया लगाकर व उनके मंदिरों को तोड़कर। इसी कारण अनेक हिंदू शासकों के साथ उसका सीधे टकराव का मार्ग खुल गया जैसे मराठा क्षेत्र में मराठों द्वारा, भरतपुर में जाटों द्वारा, असम में अहोमों द्वारा, पंजाब में सिखों द्वारा और काबुल में पश्तूनों द्वारा, जिसके कारण राजनैतिक उथल–पुथल का दौर आरंभ हो गया।

भारत में तेजी से खराब होती जा रही राजनैतिक परिस्थितियों ने पश्चिमी व्यापारियों के समक्ष एक नए अवसर को प्रस्तुत कर दिया, और वह था स्वयं ही राजनैतिक शक्ति बन जाना। इसके लिए आवश्यक था कि वे अपनी सेनाओं को स्थापित करें। आरंभ में अपनी फैक्ट्रियों की सुरक्षा के लिए इंगलिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने साधारण गार्डों या सुरक्षाकर्मियों को तैनात किया जो मुख्य रूप से यूरोपियन हुआ करते थे, लेकिन लूटपाट की कुछ घटनाओं के बाद इन गार्डों को सशस्त्र कर दिया गया। जब इन व्यापारियों के दिल में राजनैतिक अरमान जागे तो उन्होंने इन सुरक्षाकर्मियों को सेना का रूप देना आरंभ किया। उन्होंने पाया कि यूरोपियनों को सेना में भर्ती करना बहुत महंगा पड़ता था और यहां के निवासियों को बहुत कम वेतन पर भर्ती किया जा सकता था। पहले भारतीयों को गार्डों या प्रहरियों के रूप में भर्ती किया गया, और जब समय के साथ उन पर विश्वास जम गया तो उन्होंने उन्हें सैनिकों के रूप में भी भर्ती करना आरंभ किया, यहां तक की अब उनकी सेना में भारतीय सैनिकों की संख्या यूरोपियनों से कहीं अधिक हो गई। वे भारतीय सैनिकों को 'सिपॉय' या 'सिपाही' कहा करते थे।

अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीतियों के कारण युद्धों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई, जिसके लिए उन्होंने न केवल भारतीय सैनिकों की संख्या बढ़ाई, बल्कि तकनीकी व सामरिक नीतियों का सहारा भी लिया। जब भी वे कहीं बेहतर तकनीकी यंत्र या सामरिक नीति देखते, उसे अपनाते व उसे और बेहतर बनाने का प्रयास भी करते। यही कारण था कि कम संख्या होने के बाद भी वे भारतीय शासकों पर भारी पड़ते थे। इस तरह का एक उदाहरण

डा. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने अपनी पुस्तक *Ignited Minds* (प्रज्ज्वलित मानस) में दिया है। वह लिखते हैं कि मैसूर के विरुद्ध पहले युद्ध में अंग्रेज अधिकारी विलियम कोंग्रेव ने टीपू सुल्तान की सेना को रॉकेट तकनीकी का प्रयोग करते देखा और तब उसने इसका अध्ययन किया, इसमें सुधार किया और 1807 में इन सुधरी हुई तोपों का प्रयोग फ्रांस के विरुद्ध किया। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि हम भारतीयों को ज्ञात नहीं कि इस तकनीकी का आविष्कार किसने किया, लेकिन विलियम कोंग्रेव का नाम अंग्रेजी इतिहास में दर्ज है। हमें उपलब्धियों के लिए अपने लोगों को श्रेय देना इन पश्चिमी देशों से सीखना चाहिए। इस अवसर पर यह भी कहना आवश्यक होगा कि जब अंग्रेजों ने मैसूर के विरुद्ध पहला युद्ध 1766–67 में लड़ा, उस समय अंग्रेज व मैसूर तकनीकी के मामले में लगभग बराबर थे, शायद कुछ पक्षों में मैसूर ही बेहतर था। लेकिन 1799 में लड़े गए अंतिम युद्ध का समय आते–आते, तकनीकी व तोपखाने के संदर्भ में मैसूर अंग्रेजों के सामने कहीं नहीं टिकता था।

जिस युद्ध ने भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की नींव रखी, उसे सही अर्थों में युद्ध नहीं कहा जा सकता, लेकिन विरोधाभास देखिए कि इस युद्ध ने भारत का इतिहास ही बदल कर रख दिया। यह था सन् 1757 में लड़ा गया प्लासी का युद्ध जो बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के विरुद्ध लड़ा गया। नाममात्र के इस युद्ध में नवाब की सेना के बड़े भाग ने विश्वासघात करते हुए भाग नहीं लिया। अंग्रेजों के पक्ष में मात्र 29 सैनिकों की क्षति हुई जबकि नवाब की सेना ने लगभग 500 सैनिकों को खोया। इसके बाद 1764 में लड़ा गया बक्सर का युद्ध भी एक–तरफा था जिसमें 8,000 सैनिकों वाली अंग्रेजी सेना ने बंगाल के नवाब मीर कासिम, अवध के नवाब शुजाउद्दौला और मुगल बादशाह शाह आलम द्वितीय की लगभग 40,000–60,000 सैनिकों वाली संयुक्त सेना को कुछ ही समय में धूल चटाकर बंगाल और अवध पर पूरी तरह अधिकार कर लिया। इसके साथ ही भारत में मुगल साम्राज्य की चूलें पूरी तरह हिल गईं। उपरोक्त युद्धों के अतिरिक्त, अंग्रेजों ने मराठों के साथ तीन युद्ध 1775–1818 में लड़े। इनके अतिरिक्त उन्होंने पंजाब, सिंध, बर्मा, नेपाल, अफगानिस्तान आदि पर भी प्रभावी कार्यवाही करते हुए समस्त भारतवर्ष पर 1848 तक एक प्रकार से एकछत्र राज्य स्थापित कर लिया। उनके अधिकार से बाहर अभी भी अनेक रियासतें थीं जिनकी संख्या 500 से अधिक थी, लेकिन उनमें से कोई भी इतनी शक्तिशाली नहीं थी कि अंग्रेजों को चुनौती दे सके। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे अंग्रेजों के प्रभाव से मुक्त थीं।

औरंगजेब के समय से ही मुगल साम्राज्य सिकुड़ना आरंभ हो चुका था और उसकी मृत्यु के बाद यह प्रक्रिया और भी तीव्र हो गई थी। मुगलों के शासन में कानून का स्थायित्व नहीं था और स्थानीय स्तर पर भी अधिकारियों द्वारा कानून का मनचाहा दुरुपयोग होता था। इस कारण अंग्रेजों द्वारा राज्य पर अधिकार करना आमलोगों के लिए कुछ सीमा तक राहत ही लेकर आया। हालांकि यह सत्य है कि कंपनी राज ने मुगल सल्तनत पर बहुत अत्याचार किए, देश की अर्थव्यवस्था को चूस लिया, तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था को हानि पहुंचाई व भारतीय सांस्कृतिक तथा सामाजिक ताने–बाने को कमजोर किया। इन सबके बाद भी तात्कालिक रूप से अंग्रेजी शासन का आगमन लोगों के लिए सुखद अहसास के समान था जिसमें सभी भारतीयों के साथ कम से कम एक–समान व्यवहार तो किया जाता था, कानून में निश्चितता का वातावरण था।

इसका अर्थ यह भी नहीं था कि लोगों के दिल में उनकी मंशा के प्रति आशंका नहीं थी। अपनी विस्तारवादी नीतियों के कारण अंग्रेज अधिक, और अधिक क्षेत्रों को अपने अधिकार में ला रहे थे जिसके कारण अनेक नवीन समस्याएं उठ रहीं थीं। देखते ही देखते, उनके अधिकार में बंगाल–बिहार, अवध, मद्रास और बंबई के क्षेत्र पहले से विशाल होते जा रहे थे। शायद यह बताना प्रासंगिक होगा कि अवध मात्र आज के लखनऊ का क्षेत्र न होकर आज का पूरा उत्तर प्रदेश–उत्तराखंड का क्षेत्र था, बंबई आज का महाराष्ट्र–गुजरात का क्षेत्र था और मद्रास आज का लगभग पूरा तमिलनाडु था।

उत्तर से दक्षिण व पूर्व से पश्चिम तक के विशाल भारतीय उपमहाद्वीप का लगभग 60 प्रतिशत क्षेत्र अब अंग्रेजी साम्राज्य का भाग बन चुका था, जिस पर प्रभावी नियंत्रण के लिए विशाल सेना की आवश्यकता थी, लेकिन यूरोपियन सैनिक महंगे पड़ते थे। उन्होंने देखा कि भारतीय भी सैनिक के रूप में अपना कोई सानी नहीं रखते थे और उचित प्रशिक्षण मिलने पर वे विश्व के बेहतरीन योद्धा साबित होते थे; न केवल यह, उनकी निष्ठा पर भी प्रश्न नहीं उठाया जा सकता था। इन कारणों से बड़ी संख्या में भारतीयों को अंग्रेजी सेना में भर्ती किया गया। उनकी सेना के बढ़ते आकार का अनुमान आप आंकड़ों से लगा सकते हैं। 1796 में कंपनी के पास लगभग 18,000 यूरोपियन और 85,000 भारतीय सैनिक थे। 1830 आते–आते उनकी सेना में भारतीय सैनिकों की संख्या 2,23,000 हो चुकी थी जबकि इसकी तुलना में यूरोपियनों की संख्या 37,000 ही हुई थी।

1857 की क्रांति से जरा पहले कंपनी की सेना का कुल आकार 3,56,000 सैनिक व अधिकारी था जिनमें देशी सिपाहियों की संख्या लगभग 3,11,000 व यूरोपियन सैनिकों की संख्या लगभग 45,000 थी। कंपनी की सेना तीन समानांतर, लगभग स्वतंत्र सेनाओं में विभाजित थी, ये थीं बंगाल, मद्रास और बंबई की सेनाएं। इन सेनाओं का विकास भी लगभग स्वतंत्र रूप से ही हुआ था। बंगाल सेना का मुख्य भाग इलाहाबाद सेना थी जिसमें 625 यूरोपियन अधिकारियों के अधीन 80,056 देशी सिपाही थे। इसमें अधिकांश सिपाही अवध, बंगाल और पंजाब क्षेत्र से आते थे।

भारतीय सैनिक निष्ठावान थे। अंग्रेजों की कृषि व औद्योगिक नीतियों के कारण गांवों में बेरोजगारी बढ़ रही थी और अंग्रेजी सेना में भर्ती होना सामाजिक प्रतिष्ठा हासिल कर चुका था। हालांकि जब ये सैनिक देखते थे कि जिस सरकार की वे सेवा कर रहे थे, वही ऐसे अत्याचार कर रही थी जिसका दुष्प्रभाव उनके परिवार व अपने लोगों पर पड़ रहा था तो उनका मन खिन्न हो उठना स्वाभाविक था। अंग्रेज भी इस स्थिति को भांप चुके थे और वे एक बार फिर यूरोपियनों की संख्या बढ़ाने पर विचार कर रहे थे। साथ ही, वे अंग्रेज सैनिकों को अधिक बेहतर प्रशिक्षण देते थे और उन्हें बेहतर उपकरणों से सुसज्जित करते थे। तोपखाने में हमेशा ही अंग्रेजों का वर्चस्व होता था, हालांकि कुछ भारतीय भी उसमें शामिल होते थे, लेकिन उनका काम केवल सहायक (गोलंदाज) के रूप में ही होता था और तोपों को संचालित करने में उनका योगदान नहीं लिया जाता था।

कंपनी सेना की तुलना भारतीय रियासतों की सेना से करना रोचक व प्रासंगिक होगा। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में देशी रियासतों की संख्या 500 से अधिक थी। उन सभी के पास छोटी या बड़ी सेनाएं थीं और यदि उन सभी को मिलाकर एक सेना के रूप में देखा जाए तो वह बहुत आकर्षक और शक्तिशाली प्रतीत होती थी, लेकिन वास्तविकता इससे बहुत भिन्न थी। उनकी कुल सैनिक संख्या लगभग 3,75,000 से 3,85,000 के बीच होती है जिनमें लगभग 70,000 घुड़सवार और 11,000 तोपची भी सम्मिलित हैं व उनके पास लगभग 4,000 तोपें थीं।

यदि सभी देशी रियासतों की सेनाओं को मिलाकर एक साथ लाया जाए तो वे कंपनी सेना का मुकाबला करने में सक्षम हो सकते थे, लेकिन ऐसा संभव नहीं था, जिसके अनेक कारण थे। सबसे महत्त्वपूर्ण कारण था कि सन् 1856 तक संपूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप अंग्रेजों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष

अधिकार में आ चुका था। अप्रत्यक्ष अधिकार में 500+ रियासतें थीं जो सभी कंपनी के साथ अधीनस्थ गठबंधन व्यवस्था या सब्सिडियरी एलायंस सिस्टम का भाग बन चुकी थीं। इसके अंतर्गत, इन रियासतों के दरबार में कंपनी का एक रेजिडेंट तैनात हुआ करता था, जो इनके आंतरिक प्रशासन में हस्तक्षेप किया करता था। इस व्यवस्था में रियासतें एक–दूसरे से संबंध नहीं बना सकती थीं। अधिकांश रियासतों में कंपनी की सेना निवास करती थी जिसका सारा व्यय रियासत को वहन करना पड़ता था, लेकिन उसका प्रयोग उसी रियासत के विरुद्ध कभी भी हो सकता था। रियासतों के हित आपस में टकराते थे, जिसके कारण वे संगठित नहीं हो सकती थीं। इनके पास जो सेनाएं थीं भी, वे भली–भांति संगठित, सुसज्जित व प्रशिक्षित नहीं थीं। उनमें से अधिकांश दिखावा मात्र थीं जिन्हें राजा लोग युद्ध से अधिक परंपरा के लिए रखते थे।

यदि इन सेनाओं में कंपनी को किन्हीं सेनाओं से कुछ खतरा होने की संभावना थी तो ये ग्वालियर और हैदराबाद की थीं। इन दोनों रियासतों की सेनाएं उचित रूप से संगठित व प्रशिक्षित थीं और उनकी तोपों का रखरखाव भी सही प्रकार से किया गया था। लगभग 1850 में ग्वालियर सेना की अनुमानित संख्या 11,000 थी जिनमें से आधे घुड़सवार थे, जबकि हैदराबाद सेना की अनुमानित सैनिक संख्या लगभग 42,000 थी। इनके अतिरिक्त राजपूताना व पंजाब से कंपनी को कुछ खतरा हो सकता था। राजपूत अपने शौर्य व युद्ध–कौशल के लिए हमेशा से जाने गए हैं लेकिन उस समय तक वे छोटे समूहों या व्यक्तिगत रियासतों में ही बंट कर रह गए थे। इसलिए उनकी कुल सैनिक संख्या लगभग 1,00,000 और तोपों की संख्या 1,000 से अधिक होने के बावजूद जयपुर के अतिरिक्त उन्हें कंपनी के लिए कोई खतरा नहीं माना जा सकता था। पंजाब में अनेक छोटी रियासतें थीं जिनके पास छोटी लेकिन अच्छी सेनाएं थीं, लेकिन वे शक्तिशाली अंग्रेजी सेना को परास्त करने में सक्षम नहीं थीं। यदि सैनिक रूप से कुछ सक्षम रियासतों के नामों का उल्लेख हो तो उनमें होंगी ट्रावनकोर, कोचीन, मैसूर, कोल्हापुर, बरार, इंदौर, बड़ौदा, ग्वालियर, भोपाल, सौराष्ट्र, जोधपुर, फरीदकोट, पटियाला, जींद, नाभा, कपूरथला, कूच बिहार और कश्मीर।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि ईस्ट इंडिया कंपनी भारतीय उपमहाद्वीप में सर्वाधिक शक्तिशाली व साधन–संपन्न थी और उसे देशी रियासतों से कोई विशेष खतरा नहीं था। यह बात आमलोगों के लिए भी

कही जा सकती थी, ऐसा बिल्कुल नहीं था। मन धीरे–धीरे सुलग रहे थे, धुआं उठ रहा था, और इस धुएं को तीव्र ज्वाला में परिवर्तित करने के लिए क्रांतिदूत का क्षितिज पर आगमन शीघ्र ही होने वाला था।

2
पहली चिंगारी

एक ब्राह्मण सिपाही तालाब में स्नान करने के बाद एक हाथ में लोटा पकड़े अपनी बैरक की ओर लौट रहा था। एक खलासी उसके सामने आया और उससे पीने के लिए पानी मांगा। सिपाही ने उसे दुत्कारते हुए कहा, "दूर हट, तेरे छूने से मेरा लोटा गंदा हो जाएगा। तू मेरा धर्म भ्रष्ट करना चाहता है!"

"अब तो गंदगी चारों ओर फैलेगी," खलासी ने कहा।

"क्या मतलब?" सिपाही को कुछ समझ न आया।

"जिन कारतूसों को तुम अपने मुंह से तोड़ने वाले हो, उन सभी पर गाय व सुअर की चर्बी लगी है।"

इन कटाक्ष भरे शब्दों के साथ खलासी तो अपने रास्ते चला गया लेकिन सिपाही के दिल में एक तूफान पैदा कर गया। उसे पता नहीं था कि उसके शब्दों का कितना गहरा प्रभाव होने वाला था। इस खलासी का नाम मातादीन हेला बताया जाता है। इतिहासकारों ने बताया है कि उसे इस सूचना का ज्ञान अपनी पत्नी लाजो से हुआ था जो एक अंग्रेज अधिकारी के घर नौकरानी थी। आज भी भारत में जाति व्यवस्था की जड़ें गहरी हैं, उस समय छुआछूत कहीं अधिक था। किसी को अनुमान न था कि दमदम में घटी इस छोटी–सी घटना का प्रभाव इतना विशाल होगा।

प्रसिद्ध इतिहासकार जॉन विलियम काय ने अपनी पुस्तक *A History of the Sepoy War in India 1857–58* (भारत में सिपाही युद्ध का इतिहास 1857–58), भाग 1 में इस घटना के बारे में इस प्रकार लिखा है–

> जनवरी में एक दिन ऐसा हुआ कि एक निम्न जाति के लस्कर, या तोपखाना कर्मचारी, ने एक उच्च जाति के सिपाही

> से छावनी में मिलने पर उससे उसके लोटे से पीने के लिए पानी मांगा। ब्राह्मण ने जाति की आपत्ति उठाते हुए उत्तर दिया जिसके प्रत्युत्तर में उसकी हंसी उड़ाते हुए यह कहा गया कि जाति कुछ भी न थी, अब नीची जाति और ऊंची जाति एक बराबर हो जाएंगी क्योंकि अब डिपो में सिपाहियों के कारतूसों पर चर्बी लगाई जा रही है, और जल्दी ही पूरी सेना में आम प्रयोग में होगी।

सिपाही ने जब उस खलासी को अपनी बात सिद्ध करने के लिए कहा तो वह उसे उस स्थान पर ले गया जहां कारतूस बनते थे और वहां उसने स्वयं अपनी आंखों से कारतूसों के लिफाफों पर चर्बी लगाते लगभग 50–60 लोगों को देखा।

देशी लोगों द्वारा अंग्रेजों के विरुद्ध आवाज व शस्त्र उठाने को अनेक इतिहासकारों व यूरोपियन नागरिकों ने 'विद्रोह' की संज्ञा दी है। इससे सहमत होने का कोई कारण नहीं क्योंकि कंपनी राज षड्यंत्र व शक्ति के मिश्रित प्रभाव से भारत पर थोपा गया था व इसे किसी भी प्रकार से वैध नहीं कहा जा सकता। इसलिए 'प्रतिरोध' या 'क्रांति' शब्द अधिक तार्किक प्रतीत होते हैं। यह अवश्य है कि देशी सिपाहियों द्वारा किए गए प्रतिरोध को पर्याप्त सीमा तक विद्रोह कहा जा सकता है, क्योंकि वे उनकी सेवा में थे जिसके लिए वे वेतन प्राप्त करते थे। तथापि किसी व्यक्ति के लिए अपने राष्ट्र और जन्मभूमि के प्रति निष्ठा और देशभक्ति से ऊपर और कुछ नहीं हो सकता, न ही होना चाहिए।

अंग्रेजों ने भारत में आगमन के समय से ही यहां के निवासियों का अनेक प्रकार से अध्ययन किया था, जिनमें से अनेक आधिकारिक रूप से ईस्ट इंडिया कंपनी ने लिपिबद्ध करवाए थे जिन्हें विभिन्न जिलों के गजट के रूप में प्रकाशित किया गया था, जो आज भी सरलता से उपलब्ध हैं। साथ ही, अनेक यूरोपियन लेखकों ने भारत की समकालीन परिस्थितियों पर विस्तार से लिखा है। ये अध्ययन और लेखन अधिकांशतः पूर्वाग्रह–ग्रस्त और पक्षपातपूर्ण है, लेकिन फिर भी वे समकालीन समय के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध कराते हैं, जैसे मैक्स मुलर द्वारा वेदों का अध्ययन। इन लेखों की भाषा इतनी लच्छेदार होती थी कि उनके सही मंतव्य को जानना कठिन प्रतीत होता है।

उन्होंने पाया कि सामान्य रूप से भारतीय आज्ञाकारी व निष्ठावान होते हैं और सैनिक के रूप में उपयोगी भी। यही कारण था कि कंपनी ने अपनी सेना में अधिक से अधिक भारतीयों को भरती किया था। कंपनी की नीतियों के कारण कृषि व लघु उद्योग दबाव महसूस कर रहे थे। इसके कारण लोग पारिवारिक काम–धंधे छोड़कर अन्य कामों की तलाश कर रहे थे, और युवा व्यक्तियों के लिए सेना में भरती होना रोजगार का मुख्य साधन बनकर उभर चुका था जिसे सामाजिक सम्मान भी प्राप्त था। इसलिए अंग्रेजों को लगता था कि भारतीय उनके विरुद्ध कभी 'विद्रोह' नहीं करेंगे।

ऐसा नहीं है कि 1857 से पहले सिपाहियों द्वारा कोई प्रतिरोध नहीं हुआ था। वे अनेक बार और विभिन्न स्थानों पर उठ खड़े हुए थे लेकिन उनमें से अधिकांश छोटे व क्षेत्रीय स्तर पर थे। अंग्रेजों ने सिपाहियों द्वारा एक छोटा प्रतिरोध सन् 1824 में देखा जब बैरकपुर स्थित 47वीं रेजिमेंट के सिपाहियों ने बर्मा जाने से इंकार कर दिया था, जिस कारण इसे भंग कर दिया गया था। 1844 में बंगाल सेना ने सिंध जाने की आज्ञा को तभी मानने की बात कही थी जब उन्हें विदेश सेवा भत्ता (इसे 'बट्टा' कहा जाता था) दिया जाता, जिसकी स्वीकृति कंपनी को देनी पड़ी। लॉर्ड डलहौजी के गवर्नर जनरल रहते हुए सर्वाधिक संख्या में विद्रोह हुए जिनमें तीन मुख्य हैं 1848, 1849 और 1852 के, लेकिन इन्हें आसानी से दबा दिया गया था। ये क्रांतियां सिपाहियों द्वारा आरंभ की गई थीं। वे सांथाल, गोंड जैसी जनजातियों, जमींदारों, किसानों आदि के विद्रोहों से अलग थीं।

1857 से पहले हुए प्रतिरोधों में सबसे विशाल वेल्लोर विद्रोह था जो दक्षिण भारत के मद्रास प्रांत (अब तमिलनाडु) के वेल्लोर में सन् 1806 में हुआ था। इसमें सिपाहियों ने वेल्लोर के किले पर एक दिन के लिए अधिकार कर लिया था और लगभग 200 यूरोपियन सैनिकों व अधिकारियों को मार या घायल कर दिया था। इसे दबाने के लिए अंग्रेजों को आरकोट (कर्नाटक) से सेना बुलानी पड़ी थी। इसके परिणामस्वरूप होने वाले संघर्ष में 100 से अधिक सिपाहियों को बंदी बनाने के बाद दीवार के साथ खड़ाकर गोली मार दी गई थी।

इस प्रतिरोध के मूल में जो कारण था, उससे अंग्रेजों को सीख लेनी चाहिए थी, लेकिन आधी शताब्दी के अंतराल में वे शायद भूल गए थे कि उसी के कारण उनका वेल्लोर के किले से अधिकार ही चला जाता। यह कारण था अंग्रेजों द्वारा भारतीय लोगों की धार्मिक भावनाओं का निरादर करना और नस्ल के आधार पर पक्षपातपूर्ण व्यवहार करना।

नवंबर 1805 में मद्रास सेना के कमांडर–इन–चीफ जनरल सर जॉन कैडॉक ने आदेश दिया था कि हिंदू सिपाही माथे पर तिलक नहीं लगा पाएंगे, साथ ही मुस्लिम सिपाहियों को दाढ़ी साफ करवानी होगी। इस आदेश से देशी सिपाही अप्रसन्न थे। उस समय वे पगड़ी बांधा करते थे, लेकिन अब उन्हें वरदी में गोल टोप पहनने को बाध्य किया जा रहा था। इस प्रकार का टोप यूरोपियन और ईसाई धर्म में मतांतरित लोग पहना करते थे। इसमें एक चमड़े का बैज भी लगा होता था। बेल्ट, जूते आदि तो ठीक थे लेकिन हिंदू सिपाही सिर पर चमड़े को धारण नहीं करना चाहते थे। इन सभी आदेशों के कारण भारतीय सिपाही असंतुष्ट थे।

वेल्लोर के किले में मैसूर के सुल्तान, टीपू के वंशज कैद रहा करते थे जिनमें उसकी पत्नियां और पुत्र सम्मिलित थे। टीपू की मृत्यु मात्र सात वर्ष पहले 1799 में अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध में हो गई थी। उस परिवार में एक लड़की के विवाह के अवसर पर सिपाहियों ने आवाज उठाई। सिपाही चाहते थे कि टीपू सुल्तान के पुत्र को मैसूर का राजा घोषित कर दिया जाए। ऐसा माना जाता है कि इन वंशजों ने इस विद्रोह को भड़काने में भूमिका निभाई थी, लेकिन जिस प्रकार उन्होंने असंतुष्ट सिपाहियों को नेतृत्व देने से इंकार कर दिया, इसमें संदेह होना अवश्यंभावी है।

1857 आते–आते अंग्रेज भूल गए थे कि भारतीयों की धार्मिक भावनाओं से छेड़छाड़ महंगी पड़ सकती है। वे भारतीयों की धार्मिक भावनाओं से अनेक तरह से और जानबूझकर खिलवाड़ कर रहे थे। आर्थर डी. एनीस ने अपनी पुस्तक *A Short History of the British in India* (भारत में ब्रिटिश का संक्षिप्त इतिहास) में लिखा है–

> कुछ ब्रिटिश अधिकारी हमेशा ऐसे होते थे जो अपने अनुशासनिक नियमों में धार्मिक पक्षपात का आलिंगन करने के लिए कुछ अधिक ही तैयार रहते थे। हाल के वर्षों में, मिशनरियों को अधिक आक्रामक होने दिया गया था। सरकार ने सती प्रथा को समाप्त कर दिया था, और विरासत के कानून में हिन्दू विधि के अनुसार परिवर्तन करने से इंकार कर दिया था।

लेकिन जो कृत्य वे अब करने वाले थे, वह उन्हें भारी पड़ने वाला था, और यह था नए कारतूस जारी करना। लगभग सभी इतिहासकारों ने चर्बीयुक्त कारतूस को क्रांति का कारण माना है, लेकिन यह भी सत्य है कि भारत में अनेक स्थानों पर क्रांति की भूमिका उससे बहुत पहले से बांधी जा रही थी, जिसके बारे में हम आपको शीघ्र ही बताएंगे। वास्तव

में इन कारतूसों ने ऐसे बारूद में चिंगारी लगा दी थी जो बहुत पहले से उपस्थित था और जिसका निर्माण अंग्रेजों की अपनी नीतियों और भारतीय क्रांतिकारियों के प्रयासों के कारण हुआ था। मेडली को उद्धृत करते हुए विनायक दामोदर सावरकर अपनी पुस्तक *1857 का स्वातंत्र्य समर* में लिखते हैं कि वस्तुतः चर्बी से चिकने किए गए कारतूसों की बात ने तो केवल उस सुरंग में अंगार मात्र ही लगाया था जिसका निर्माण अनेक कारणों द्वारा किया गया था।

कंपनी ने 1856 में एनफील्ड नामक एक नई बंदूक (राइफल) का प्रयोग करने की ठानी, जो इससे पहले प्रयुक्त होने वाली ब्राउन बेस बंदूक से अधिक प्रभावी थी। यह पहले इंग्लैण्ड के एनफील्ड में तैयार हुई थी, और इसी से इसका नाम एनफील्ड पड़ा। हालांकि इस बंदूक का निर्माण अंबाला (अब हरियाणा में) और दमदम (अब पश्चिम बंगाल में) में भी आरंभ हो चुका था लेकिन इसका वही नाम प्रचलित रहा। यह उस समय प्रयोग में लाई जा रही मस्कट से कहीं अधिक प्रभावी थी। इसमें प्रयोग होने वाला कारतूस ही विवाद का विषय बना। यह एक कागज के लिफाफे में बंद होता था। बाएं हाथ से बंदूक पकड़कर दाएं हाथ से कारतूस भरना होता था, लेकिन उसके लिए लिफाफे को फाड़ना आवश्यक होता था, दूसरा हाथ व्यस्त होने के कारण उसे मुंह से फाड़ा जाता था। इस कारतूस को सूखने से बचाने के लिए इसमें चर्बी लगाई जाती थी। इस चर्बी के बारे में पहले एक अफवाह सामने आई कि इसमें गाय व सुअर की मिश्रित चर्बी लगी थी। हिंदुओं के लिए गाय पवित्र होती है जबकि मुसलमानों के लिए सुअर अपवित्र। दोनों के लिए ही इस चर्बी का सेवन करना धर्म भ्रष्ट करने वाला कारण होता।

जहां धुआं होता है, वहां कुछ आग भी होती है। जानना रोचक होगा कि फोर्ट विलियम आयुधालय ने 15 अगस्त 1856 को गंगाधर एंड कंपनी से दो आना प्रति पाउंड ग्रीस व टैलो का अनुबंध किया था जिसका प्रयोजन बिल पर लिखा था कि उसका प्रयोग बारूद व कारतूस पर होगा। लेखक काय भी अपनी पुस्तक के भाग 1 में कहता है—

> आयुध विभाग ने टैलो को खरीदने का आदेश दिया और इसमें कौनसे पशु की वसा प्रयोग होगी, नहीं लिखा था, हालांकि सुअर की चर्बी का प्रयोग नहीं हुआ था, कुछ गौ चर्बी का प्रयोग न होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अफवाह से आरंभ हुई बात सिपाहियों के दिलों में घर कर गई। इस बात का ज्ञान अंग्रेजों को भी हो गया था, लेकिन वे इस ओर से अंजान बने रहने का दिखावा करते रहे। अंग्रेज भारतीयों को 'हीदन' (heathen) कहा करते थे, जिसका अर्थ है कि वे स्वयं तो एक श्रेष्ठ धर्म के मानने वाले थे जबकि उनके अधीन भारतीय धर्महीन या निम्न कोटि के धर्म से संबंध रखते थे। अमेरिका और अफ्रीका में उनका अनुभव यही कहता था कि ईसाई धर्म के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को आसानी से ईसाई बनाया जा सकता था, और इस दिशा में प्रयास भी किए जाते थे। जब कोई रेजिमेंट युद्धरत् नहीं होती थी तो पादरियों व मिशनरियों को उपदेश, भाषण आदि के लिए बुलाया जाता था। स्वयं अधिकारी भी सिपाहियों को ईसाई धर्म अपनाने के लिए प्रोत्साहित करते थे तथा इसके पुरस्कार स्वरूप सिपाहियों को प्रोन्नति देकर हवलदार व सूबेदार भी बनाया जाता था। अंग्रेज अधिकारियों के बारे में यह बात भी प्रचलित थी कि उन्होंने एक हाथ में 'प्रमोशन लेटर' पर बाइबिल पकड़ी होती थी। शायद उन्होंने इस तथ्य की अनदेखी की थी कि भारत में हिंदू व इस्लाम धर्मों की जड़ें अधिक गहरी थीं, उनकी संस्कृति पुरानी व श्रेष्ठ थी।

चर्बी लगी होने की बात देखते–ही–देखते पहले दमदम में और वहां से नजदीक ही स्थित बैरकपुर में फैल गई। अब सिपाही संदेह से उन कारतूसों को भी देखने लगे थे जिनका प्रयोग वे पहले से ब्राउन बेस मस्कट में कर रहे थे। काय ने कारतूस प्रकरण की तुलना वेल्लोर में घटित क्रांति से इन शब्दों में की है–

> लेकिन अब अंग्रेजों ने स्वयं अपने शत्रुओं के हाथों में कोई काल्पनिक नहीं, बल्कि अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्य रख दिया था जिसका प्रयोग उनके स्वयं के विरुद्ध विनाश के भयंकर औजार के रूप में किया जा सकता था। चमड़े के टोप वाले मामले की तरह जिसने आधी शताब्दी पहले दक्षिण भारत को भड़का दिया था, इस घटना ने दोनों मुसलमान और हिन्दू की भावनाओं को उभार दिया था; हालांकि ये दोनों एक ही तरह की थीं, लेकिन तीव्रता में यह कहीं अधिक भड़काऊ, अधिक अपमानजनक, अधिक निंदाजनक, अधिक घृणास्पद थी।

अंग्रेज भी इन कारतूसों के बारे में झूठ बोलते प्रतीत हो रहे थे। एक अंग्रेज अधिकारी ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि इन कारतूसों

में 'हॉग' (सुअर) या 'ऑक्स' (बैल) की चर्बी का प्रयोग हुआ था। *मेरठ गेजेटियर* भी इस बात को स्पष्ट कहता है कि न केवल सिपाहियों में बल्कि बाजारों में भी यह अफवाह फैल चुकी थी कि सिपाहियों को चर्बीयुक्त कारतूस दिए जाने वाले थे।

बरहामपुर (उड़ीसा) में तैनात 19वीं और बैरकपुर (अब पश्चिम बंगाल में) में तैनात 34वीं देशी टुकड़ियों के सिपाही इस बात के बारे में भली–भांति जानते थे, लेकिन उनका निश्चय था कि वे कोई कदम उस समय उठाएंगे जब उन्हें उन कारतूसों का प्रयोग करने को कहा जाएगा। उन्हें अधिक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता भी नहीं पड़ी।

फरवरी 1857 के आरंभ में ही अंग्रेजों को आशंका थी कि 19वीं देशी रेजिमेंट के सिपाही नए कारतूसों के विरुद्ध विद्रोह कर सकते थे, इसलिए इस इकाई को निःशस्त्र कर भंग कर दिया गया। इसके दो अर्थ थे, पहला सिपाहियों में असंतोष बढ़ना, दूसरा उनका बेरोजगार हो जाना।

यह माना जाता है कि ये सिपाही वापस अपने घर न जाकर दूसरी इकाईयों और स्थानों के सिपाहियों से संपर्क साधने लगे। इससे पूरी सेना में असंतोष फैलना स्वाभाविक था। अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों व सेना में देशी सिपाहियों के विरुद्ध पक्षपात के कारण सिपाही पहले से ही असंतुष्ट थे। पिछले वर्ष अर्थात् 1856 में अवध को भी अंग्रेजों ने अवैध ढंग से हथिया लिया था, उससे सिपाहियों के सम्मान को गहरी ठेस पहुंची थी क्योंकि बंगाल सेना में बड़ी संख्या में सिपाही अवध क्षेत्र से आते थे। इन कारतूसों के प्रयोग का दबाव तो मानो जले पर नमक छिड़कने के समान था। उन्हें अपना धर्म संकट में प्रतीत हो रहा था।

इस असंतोष को भड़काने में अन्य अफवाहों ने भी काम किया जिन्हें घुमक्कड़ साधुओं और अन्य संदेशवाहकों ने बखूबी फैलाया था। अक्टूबर 1853 से फरवरी 1856 के मध्य क्रीमिया का युद्ध हुआ था जिसमें अन्य शक्तियों के अतिरिक्त मुख्य युद्ध इंग्लैण्ड व रूस के मध्य लड़ा गया था। हालांकि इसमें इंग्लैण्ड की विजय हुई थी, लेकिन भारत में ऐसी अफवाह फैली कि इस युद्ध में अंग्रेज बड़ी संख्या में हताहत हुए हैं और बहुत बड़ी संख्या में महिलाएं विधवा हुई हैं, और अंग्रेज सरकार दुविधा में है कि इन विधवाओं का क्या किया जाए और वह विचार कर रही है कि उन्हें भारत भेजकर उनका विवाह देशी रियासतों के युवराजों से करा दिया जाए। इस प्रकार के विवाहों से होने वाली संतानें ईसाई होंगी और ईसाई धर्म का

भारत में वर्चस्व बढ़ जाएगा। यह थी तो अफवाह लेकिन इसका प्रभाव दूरगामी हो सकता था। ऐसी अन्य अनेक अफवाहें भी फैल रही थीं, उनमें से एक का वर्णन *मेरठ गेजेटियर* में भी है–

> मेरठ के बाजारों में और देशी सिपाहियों के बीच बेचैन करने वाली अफवाहें उड़ रही थीं, जो विशेषकर सिपाहियों को शीघ्र ही जारी होने वाले नये कारतूसों को बनाने में [धर्म] भ्रष्ट करने वाली ग्रीस, और बाजार में बिकने वाले आटे में हड्डियों के चूरे का प्रयोग था, जिसके द्वारा यह कहा गया था कि सरकार का मंतव्य लोगों की जाति और धर्म को नष्ट करना था।

काय ने अपनी पुस्तक में इस बारे में इस प्रकार लिखा है–

> परेशान करने वाली अफवाह अनेक रूपों में चतुराई से फैलाई जा रही थी। यह कहा जा रहा था कि कंपनी और रानी के आदेश के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों ने बाजार में बिकने वाले आटे व नमक में हड्डियों का चूरा मिलाया था और उन्होंने सारे घी को पशुओं की चर्बी से दूषित कर दिया था। गांवों में बूरे को हड्डियों के साथ जलाया जा रहा था। लोगों के पेयजल को दूषित करने के लिए कुओं में न केवल हड्डियों का चूरा बल्कि गाय और सुअर का मांस भी डाला जा रहा था।

दमदम से उठी बात बैरकपुर होते हुए पूरे भारत की छावनियों में पहुंच चुकी थी, और सिपाहियों के माध्यम से सिविलियनों तक। इस समाचार को फैलाने में दो प्रकार के लोगों ने मदद दी थी। पहले थे संदेशवाहक जो कंपनी की ओर से नियुक्त कर्मचारी होते थे और जिनका कार्य जिला मुख्यालयों और छावनियों को डाक पहुंचाना होता था। प्रत्येक सैनिक इकाई में इन संदेशवाहकों की प्रतीक्षा उत्सुकतापूर्वक होती थी जैसे हाल के समय स्मार्ट फोन अस्तित्व में आने तक डिस्पैच राइडर या डाकिया की होती थी। उस समय यह उत्सुकता और भी अधिक होती थी क्योंकि वही उनके व उनके परिवार और स्वजनों के मध्य कड़ी का काम करते थे। जैसे ही कोई संदेशवाहक सैनिक युनिट में आता, सिपाही उसे घेर लेते थे और अपने पत्रों के बारे में तो पूछते ही थे, अन्य समाचारों के बारे में भी पूछते थे। ये संदेशवाहक रोज नहीं आते थे। प्रमाण के अनुसार, दिल्ली से बैलगाड़ी द्वारा मेरठ आने वाला संदेशवाहक सप्ताह में दो बार आया करता

था। अनेक बार वह सिपाहियों की जरूरत का सामान भी दिल्ली से लेकर आता था, इसलिए वे आपस में पर्याप्त घनिष्ठ होते थे।

सर काय ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए अपनी पुस्तक में 'टिप्पणी' में लिखा है–

> 1841 ई. में काबुल में विद्रोह और नरसंहार व इसके बाद दर्रे में अंग्रेजों के सफाये का समाचार मेरठ व करनाल के बाजारों से होता हुआ कलकत्ता पहुंच गया और उसके बाद ही किसी आधिकारिक पत्र द्वारा वह गवर्नमेंट हाउस पहुंचा। इसके अतिरिक्त, बैरकपुर के विद्रोह के बारे में स्पेशल एक्सप्रेस द्वारा सूचना पहुंचाए जाने से पहले बर्मा जाने वाले बल को ज्ञान था।

समाचार को फैलाने में जिस दूसरे वर्ग ने अधिक बड़ी भूमिका निभाई भी, उसमें शामिल थे साधु, फकीर और मदारी। ये लोग आसानी से लोगों में पैठ बना लेते थे और लोग भी उन पर विश्वास करते थे। इस पुस्तक का नायक भी एक संन्यासी ही है जिसने मेरठ के काली पल्टन मंदिर में निवास करते हुए क्रांति को आरंभ करने में बड़ी भूमिका निभाई, और प्रसन्नता इस बात की है कि जो चेहरा अभी तक रहस्य की चादर में लिपटा था, उस रहस्यमयी चेहरे को लेखक ने आपके सामने लाने में सफलता पाई है।

3

पहला बलिदान

भारतीय सिपाहियों के प्रतिरोध को देखते हुए कुछ समय के लिए इन कारतूसों के प्रयोग को रोक दिया गया। लेकिन कुछ ही दिनों में अंग्रेज अधिकारियों का घमंड फिर सिर चढ़कर बोलने लगा, यद्यपि वे जानते थे कि इसके कारण सिपाही विद्रोह कर सकते थे। फ्रेडरिक शोअर ने कलकत्ता से प्रकाशित गजट में लिखा–

> कंपनी सरकार ने यहां के लोगों को अपने व्यापार के कारण प्रभाव में ले लिया है, लेकिन इस बात का यह अर्थ नहीं निकलता कि ये लोग कंपनी की सरकार को सहन कर लेंगे। वे हमें विदेशी मानते हैं। इस सच्चाई को हमें जानना चाहिए।

इस समय बैरकपुर बंगाल प्रेसिडेंसी का मुख्यालय था जिसका कमांडर–इन–चीफ हीअर्से था। उसे भी विद्रोह की संभावना का समाचार प्राप्त हुआ था, लेकिन उसका विचार था कि विद्रोह की बात करना आसान था लेकिन अमल करना मुश्किल। अगर वे विद्रोह करेंगे तो वे न घर के रहेंगे न घाट के। वे अंग्रेजों की ताकत के सामने टिक नहीं सकते। सबकी नौकरी जाएगी सो अलग। इसलिए अंग्रेज अधिकारी ऐसी बातों पर ध्यान नहीं दे रहे थे। दूसरी ओर, उसे अपने ही कुछ अधिकारियों से सलाह मिल रही थी कि कारतूसों का प्रयोग रोक दिया जाए, अन्यथा सिपाहियों द्वारा विद्रोह करने पर उन्हें नियंत्रण में लाना कठिन हो जाएगा।

हीअर्से को इस प्रकार की टिप्पणियां नागवार गुजरती थीं। उसने यह स्वीकार किया था कि नई बंदूकों से सिपाहियों में असंतोष फैला था, लेकिन वह इस बात को मानने को तैयार नहीं था कि इसके कारण सिपाही विद्रोह कर सकते थे। उसके विचार में सिपाही कंपनी को मां–बाप मानते थे। उसके

शतुरमुर्गी रवैये की बात तब और भी स्पष्ट हो गई जब कलकत्ता मुख्यालय से चेतावनी आने पर उसने कहा था कि बैरकपुर, बरहामपुर नहीं था।

संदर्भवश बताना उचित होगा कि बरहामपुर में 19वीं देशी रेजिमेंट में जब सूचना पहुंची कि कारतूसों में चर्बी का प्रयोग होता है तो वे आतंकित हो उठे कि उनका धर्म खतरे में पड़ रहा था। यह बातचीत कुछ शोर में बदल गया, जिसे विद्रोह समझकर कमान अधिकारी मेजर मिशेल ने कुछ अधिक जल्दबाजी दिखाते हुए तोपें और घुड़सवार सेना बुला ली थी। इसके बाद कोर्ट ऑफ इंक्वायरी बैठा दी गई थी, जिसने सिपाहियों के इस व्यवहार को विद्रोह कह कर इस रेजिमेंट को भंग करने का निर्णय दे दिया, जिसके लिए इसे बैरकपुर मार्च करने का आदेश दिया गया। इस प्रकार यह रेजिमेंट 20 मार्च को बरहामपुर से बैरकपुर की ओर पैदल चली। 30 मार्च को यह गंतव्य से लगभग 13 किमी दूर पहुंच गई जहां उसे समाचार मिला कि बैरकपुर में विद्रोह हो गया था और एक अंग्रेज अधिकारी को मार डाला गया था।

1857 की बात करने पर मंगल पांडे का संदर्भ आना अनिवार्य है। बैरकपुर में इस वीर ने अकेले ही क्रांति की मशाल उठा ली थी। आइए, हम मंगल पांडे द्वारा दिए गए बलिदान की कहानी जानते हैं और फिर गुप्त अभियान की ओर रुख कर अपने क्रांतिदूत की खोज करने चलेंगे।

बलिया में जन्मे मंगल पांडे कंपनी की बंगाल सेना में सन् 1849 में भरती हुए थे और 1857 में उनकी आयु लगभग 30 वर्ष थी। उनकी रेजिमेंट 34वीं बंगाल देशी पैदल सेना थी जिसकी 5वीं कंपनी में वह तैनात थे। यह रेजिमेंट उस समय बैरकपुर में स्थित थी, यह स्थान वर्तमान में पश्चिम बंगाल राज्य के जिला 24 परगना में कोलकता से लगभग 32 किमी दूर स्थित है।

शनिवार, 29 मार्च 1857, स्थान बैरकपुर। भारत में एक नया इतिहास लिखा जाना निश्चित था। पिछली रात सिपाहियों ने आपस में बैठक की थी, जिसमें गुप्त अभियान के तत्त्व भी सम्मिलित हुए थे। इसमें उन्हें बताया गया था कि 31 मई को क्रांति करना निश्चित हुआ है। क्रांति गीत भी गाया गया। इस गीत को इस पुस्तक के अंत में परिशिष्ट 'क' में दिया गया है। गंभीर बात समाप्त कर मनोरंजन के लिए शायद भांग भी घोटा गया था।

मंगल पांडे के सिर पर तो जुनून सवार था, वह तो समझ बैठे थे कि अगले दिन सवेरे ही क्रांति करनी है। इस बात का प्रमाण तो नहीं, लेकिन जो कुछ उन्होंने कहा, उससे तो यही अर्थ निकलता है।

सैनिकों के लिए शनिवार का दिन अन्य दिनों की अपेक्षा कुछ अलग होता है, उस समय भी कुछ ऐसा ही था। सुबह पी.टी. नहीं हुई थी, कुछ देर परेड अवश्य हुई थी, अधिकारी और सिपाही सभी आराम करना चाह रहे थे। जिन लोगों की ड्यूटी लगी थी, उन्हें तो तैनात रहना ही था। सूरज आज पूरी तेजी से चमक रहा था मानो वह अतिरिक्त ऊर्जा प्रदान करना चाह रहा हो। समुद्र से बहुत दूर न होने के कारण बैरकपुर में इस मौसम में पर्याप्त गरमी होती है, विशेषकर उमस अधिक होती है, जिसके कारण पसीना सूखता नहीं और यह किसी भी व्यक्ति को बेचैन बना देती है। यह बेचैनी मंगल पांडे को कुछ अधिक ही परेशान कर रही थी। वह समझ नहीं पा रहे थे कि बाकी सिपाही इतने शांत क्यों बने हुए थे। उनके अनुसार तो आज क्रांति करनी थी। और फिर उनसे और सहन नहीं हुआ।

मंगल पांडे ने अपनी मस्कट उठाई, जेब में गोलियां भरीं, एक गोली मस्कट में भरी, तलवार को जांचा और क्वार्टर गार्ड के सामने स्थित परेड ग्राउंड में आ गए। वहां ड्यूटी पर तैनात सिपाही उत्सुकतावश उन्हें देख रहे थे कि वह क्या करना चाहते थे।

मंगल पांडे ने दहाड़कर कहा, "अरे? शांत क्यों बैठे हो? क्रांति नहीं करनी क्या? मर्द हो तो उठो? अब पीछे क्यों रहते हो?"

जब उन्होंने देखा कि कुछ और सिपाही भी उसी ओर आ रहे हैं तो वह और जोर से गर्जना कर ललकारने लगे, "भाईयों, आओ, शत्रु पर टूट पड़ो। पहले अंग्रेज को देखते ही मार डालो। नहीं आते तो न आओ, मैं अकेला ही दुश्मनों से लडूंगा।"

वह इधर से उधर कदम मारते हुए अपने साथी सिपाहियों को प्रेरित करने की कोशिश कर रहे थे। सभी आंखें उन पर जमी थीं, लेकिन कोई अपनी जगह से नहीं हिल रहा था।

उसी समय, एड्जूटेंट पद पर तैनात लेफ्टिनेंट बॉ को समाचार मिला कि कुछ सिपाही उकसावे में आकर बहक गए थे। वह तुरंत ही हथियारबंद हो अपने घोड़े पर सवार हो मैदान में आ पहुंचा। उससे जरा पहले अंग्रेज सार्जेंट मेजर ह्यूसन भी परेड ग्रांउड में पहुंच चुका था। उसने क्वार्टर गार्ड के भारतीय अधिकारी जमादार ईश्वरी प्रसाद को आदेश दिया कि वह मंगल पांडे को हिरासत में ले ले। यह बात विचारणीय है कि इन दोनों के रैंक बराबर थे लेकिन अंग्रेज अपने को वरिष्ठ व बेहतर समझते हुए भारतीयों पर रौब झाड़ते थे। ईश्वरी प्रसाद को यह बात नागवार गुजरी।

उसने कहा कि उसके साथी सिपाही उस समय वहां नहीं थे और वह अकेले ही मंगल पांडे को काबू में नहीं कर पाएगा। इससे गुस्से में आकर ह्यूसन ने ईश्वरी प्रसाद को हथियारबंद होकर अपने सामने आने को कहा।

इस समय मंगल पांडे गार्ड रूम के सामने लगाई गई तोप के पीछे थे। इसी समय लेफ्टिनेंट बॉ अपने घोड़े पर सवार होकर मैदान में पहुंच गया और तोप की ओर रुख किया। ह्यूसन ने उसे चेतावनी दी कि उसे अपने दायीं ओर जाना चाहिए क्योंकि सिपाही (मंगल पांडे) उस पर गोली चला सकता था। बॉ अभी पूछ ही रहा था कि वह कहां था कि मंगल पांडे ने गोली चला दी। निशाना चूक गया और गोली घोड़े को जा लगी जो अपने सवार सहित नीचे आ गिरा। बॉ ने जल्दी से स्वयं को घोड़े से मुक्त किया और पिस्तौल निकाल ली। इस बीच ह्यूसन ने मंगल पांडे पर हमला किया लेकिन उन्होंने स्वयं को बचाते हुए मस्कट का बट उसकी पीठ पर दे मारा जिससे वह नीचे आ गिरा। बॉ अभी भी जमीन पर ही था जब मंगल पांडे ने अपनी तलवार निकालते हुए वार किया जो उसके कंधे पर लगा। वहां उपस्थित सिपाहियों ने भी दोनों गिरे हुए अंग्रेजों पर लात–घूंसे बरसाए।

गोली की आवाज सुनकर और सिपाही भी मैदान की ओर दौड़े लेकिन उन्होंने वहां हो रही घटना में भागीदारी नहीं की। इन सिपाहियों में एक शेख पलटू भी था। जैसा नाम, वैसी करनी, ऐसा प्रतीत होता है, वह क्रांति से पलट गया। वह मंगल पांडे की ओर बढ़ा। अपने साथी सिपाही को देखकर उसकी ओर से मंगल पांडे असावधान थे। लंबे व मजबूत कद–काठी के पलटू ने उन्हें पीछे से पकड़ लिया। मंगल पांडे छूटने का प्रयत्न करने लगे लेकिन वह असहाय थे। इस पर अन्य सिपाहियों ने उन्हें छोड़ने के लिए पलटू को कहा और उस पर पत्थर और जूते भी मारे, उसे गोली मारने की धमकी भी दी। दूसरी ओर, पलटू गार्डों को आकर अपनी सहायता करने को कहता रहा। जब उसकी सहायता को कोई नहीं आया तो पलटू ने मंगल पांडे को छोड़कर एक ओर दौड़ लगा दी। इस समय तक दोनों घायल अंग्रेज अपने पैरों पर खड़े होकर दूसरी ओर भाग चुके थे। काय अपनी पुस्तक में लिखता है–

> [क्वार्टर] गार्ड के कुछ सिपाहियों ने जमीन पर पड़े घायल अधिकारियों को अपनी मस्कट के बट से मारा; और जब शेख पलटू ने उन्हें विद्रोही को पकड़ने को कहा, उन्होंने उसे गाली

दी, और कहा कि यदि उसने मंगल पांडे को नहीं छोड़ा, वे उसे गोली मार देंगे। लेकिन उसने असहाय दीवाने को तब तक नहीं छोड़ा जब तक बॉ और सार्जेंट मेजर भाग नहीं गए। निस्संदेह उन्हें अपने जीवन के लिए उसकी वफादारी के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए।

यह सब चल ही रहा था कि जनरल हीअर्से को इस घटना की सूचना दी गई। उसके दो युवा पुत्र हाल ही में सैनिक अधिकारी बने थे। वह उन दोनों को लेकर परेड ग्राउंड में आ गया। वह अपना घोड़ा सीधा क्वार्टर गार्ड की ओर ले गया और अपनी पिस्तौल तानकर वहां तैनात सिपाही को आदेश दिया कि वह मंगल पांडे को पकड़े। उसने चेतावनी दी कि उसके आदेश का पालन नहीं करने वाले को वह गोली मार देगा। इस बड़े अधिकारी को देखकर सभी सिपाही सावधान हो गए और मंगल पांडे को पकड़ने के लिए उद्यत हुए।

इस समय तक मंगल पांडे थक चुके थे। उन्हें साथी सिपाहियों का सीधा समर्थन भी नहीं मिल रहा था। जब उन्होंने देखा कि सिपाही आदेश पालन करते हुए उन्हें पकड़ने आ रहे थे तो उन्होंने अपनी मस्कट की नली अपने गले पर लगा ली और पैर से घोड़ा दबा दिया। गोली लगने के साथ ही वह जमीन पर आ गिरे। खून बहने लगा, वरदी में आग लग गई थी, लेकिन मृत्यु नहीं हुई थी।

अभी पूरा एक सप्ताह भी नहीं बीता था, मंगल पांडे का उपचार बस खून रोकने के लिए हुआ था, क्योंकि अंग्रेजों को पता था कि उनका क्या किया जाना है। दिखावे के लिए न्याय किया गया, अदालती कार्यवाही की गई, उनसे पूछा गया कि वह किसके प्रभाव में थे, लेकिन उन्होंने सारा दोष अपने ऊपर ले लिया। उन्हें फांसी की सजा सुना दी गई और इसके लिए 18 अप्रैल की तारीख भी घोषित कर दी गई। इस बीच बरहामपुर से आई 19वीं देशी रेजिमेंट को 31 मार्च को भंग कर दिया गया था।

8 अप्रैल 1857। फांसी का दिन अभी दस दिन दूर था। सुबह–सवेरे का समय था। काल–कोठरी में मंगल पांडे बैठे थे। घाव में दर्द के कारण ही उनकी नींद जल्दी खुल गई थी। गर्दन का घाव अभी टीस दे रहा था। शायद वह सोच रहे थे कि गर्दन खिंचने से अधिक दर्द होगा या इस घाव पर रस्सी के दबाव से। उनके साथ वाली कोठरी में ईश्वरी प्रसाद था। उस पर आरोप था कि आदेश मिलने पर भी उसने अपने साथी सिपाहियों को

मंगल पांडे को न पकड़ने का आदेश दिया था। उसने भी इस छोटी ही सही लेकिन विदेशी शासकों के विरुद्ध महत्त्वपूर्ण क्रांति में भूमिका निभाई थी, और इसके लिए उसे भी मृत्युदंड दिया गया था और उसकी फांसी की तारीख 21 अप्रैल निश्चित की गई थी।

लेकिन यह क्या, आज ही मंगल पांडे को लेने एक अंग्रेज अधिकारी सिपाहियों के साथ आ धमका। उनका मंतव्य जानकर मंगल पांडे के चेहरे पर मुस्कान उभर उठी थी। जब वह संगीनों के साये में फांसी–घर की ओर कदम बढ़ा रहे थे, उनकी दृष्टि ईश्वरी प्रसाद की कोठरी पर पड़ी। उन्हें आशा नहीं थी कि वह उस समय जाग रहा होगा, लेकिन शायद उसे भी इस बात का आभास हो गया था। वह कोठरी का सरिया पकड़े आगे की ओर झुका खड़ा था। मंगल पांडे उसे कुछ कहने के लिए ठिठके लेकिन संगीन के चुभते दबाव ने उन्हें आगे कदम बढ़ाने पर विवश कर दिया। निश्चित दिन से दस दिन पहले ही उन्हें बाकी देशी सिपाहियों के सामने फांसी दे दी गई। शरीर अवश्य मर गया था लेकिन आत्मा और विचार नहीं मरा करते, उनके बलिदान ने यह बात सिद्ध कर दी थी। यह 1857 की क्रांति का पहला बलिदान था। इसी के साथ, यह धरती इस प्रकार के हजारों और बलिदान करने के लिए वीरों को तैयार करने में जुट गई।

इन अमर वीरों की कहानी सुनाते समय शेख पलटू की बात बताने से जीभ भी कसैली हो उठती है, लेकिन उसे भी बताना उपयुक्त होगा। मंगल पांडे को पकड़ने के कारण उसे प्रोन्नति देकर हवलदार बनाया गया, लेकिन कुछ ही दिनों में सैनिक परिसर में ही उसकी हत्या कर दी गई। अन्य सिपाहियों की अवज्ञा के कारण 34वीं टुकड़ी को विश्वास–योग्य नहीं माना गया और कोर्ट ऑफ इंक्वायरी ने मात्र एक दिन में ही इसे भंग करने की सिफारिश कर दी। काय ने इस निर्णय की सत्यता का खुलासा अपनी पुस्तक में किया है–

> सिपाही अभी भी अपने हाथों में अपने हथियार पकड़े आते–जाते थे, और बैरकपुर में मुश्किल से ही कोई यूरोपियन था जिसे स्वयं के हिंसा से सुरक्षित होने का विश्वास था।

इस भय के कारण बैरकपुर में उपस्थित सभी सिपाहियों को उनके घरों की ओर रवाना कर दिया गया, लेकिन इस पर संदेह है कि ये लोग अपने घरों को ही गए। क्षितिज में उभरता तारा शायद उन्हें भी अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। इस समय तक क्रांतिदूत सक्रिय हो उठा था।

4

एक तारे का उदय

अंग्रेजों ने प्रयत्न किया था कि अन्य रेजिमेंटों और सैनिक इकाईयों के सिपाहियों और आमलोगों को मंगल पांडे का बलिदान ज्ञात न हो पाए, लेकिन ऐसा हो नहीं पाया। भंग की गई इकाईयों के सिपाहियों, साधुओं, फकीरों, व्यापारियों, संदेशवाहकों आदि ने इस समाचार को पूरे भारत में फैला दिया। बरहामपुर की घटना को साधु ने भी सुना। वह साधु ही इस पुस्तक का नायक है। रहस्य में लिपटा यह व्यक्तित्व अनोखा है। उसका नाम भी हमें ज्ञात है लेकिन वह इतिहासकारों की दृष्टि से अभी तक ओझल ही बना हुआ है। कुछ लेखकों ने अवश्य ही इस व्यक्तित्व का नाम उजागर किया है लेकिन उनसे सहमत होने वालों से अधिक संख्या उन लेखकों व विद्वानों की है जो क्रांति में उसकी भागीदारी को नकारते हैं। इसलिए आवश्यक है कि उसका परिचय देने से पहले कुछ और प्रमाणों व परिस्थितियों की परीक्षा कर ली जाए।

संन्यासी बनने के बाद हमारा नायक साधु एक स्थान से दूसरे स्थान जा रहा था कि उसे कोई ऐसा गुरु मिले जो उसके संदेहों का निवारण करे, व्याकरण पढ़ाए, वेदों को पढ़ने में सक्षम बनाए, ज्ञान का साक्षात्कार कराए, उसे बताए कि जीवन की सत्यता क्या है। वह एक के बाद एक साधुओं, संन्यासियों, तपस्वियों के संपर्क में आया, लेकिन संतुष्ट नहीं हुआ। उसे घर से निकले हुए लगभग 9 वर्ष हो गए थे, लेकिन उसकी खोज अभी भी अधूरी ही थी। अनेक मान्यताओं को वह नकार चुका था, लेकिन उस मान्यता की खोज करने में वह पूरी तरह विफल रहा था जो उसके मन को शांति दे, उसके तर्कों पर खरी उतरे। जब उसे वर्ष 1855 में हरिद्वार में होने वाले कुंभ के बारे में ज्ञात हुआ तो उसके कदम स्वतः ही

इस गंतव्य की ओर बढ़ गए। इस स्थान पर ज्ञानियों का संगम होना ही था, उसे भी वहां अपना उद्देश्य पूरा होने की आशा हुई।

पूना में 4 अगस्त 1875 को दिए व्याख्यान में साधु ने स्वयं कहा है, "वहां से [अहमदाबाद से] मैं जाते–जाते हरिद्वार गया। वहां उस समय कुंभ का मेला भरा हुआ था।"

1855 के पूर्वार्ध में आयोजित कुंभ मेला विशाल था। इस समय कंपनी राज की स्थापना हुए सौ वर्ष पूरे होने वाले थे। स्थान–स्थान पर जाकर साधु और फकीर लोगों को विश्वास दिलाते थे कि अंग्रेजों का अत्याचारी राज सौ वर्ष पूरा होने के साथ ही समाप्त हो जाएगा। इस समय ऐसी कोई योजना शायद अस्तित्व में नहीं थी जिसके द्वारा अंग्रेजों को मार भगाने का उपक्रम किया जाता, लेकिन लोगों के मन में इस प्रकार की भावना भरने लगी थी। ऐसे लोग उस स्थान से स्वयं को किस प्रकार अलग रख सकते थे जहां कुंभ के रूप में मानव–समुद्र ही अस्तित्व में आने वाला था। वहां से किसी भी संदेश को देश के कोने–कोने में भेजा जा सकता था, जो उन दिनों अन्यथा कोई आसान कार्य नहीं था। यही कारण था कि उस समय यह क्रांतिकारियों का ठिकाना बन गया था जो येन–केन–प्रकारेण अंग्रेजी राज की समाप्ति चाहते थे।

उस समय के राजनैतिक परिदृश्य का अवलोकन करने से भी हम यहां होने वाले घटना–क्रम को भली–भांति समझ सकते हैं। वर्ष 1848 में ब्रिटिश भारत के गवर्नर जनरल लॉर्ड डलहौजी ने एक नई नीति बनाई जिसे 'डॉक्ट्रीन ऑफ लैप्स' या 'व्यपगत का सिद्धांत' कहा जाता है। यह वास्तव में भारतीय रियासतों को हड़पकर अंग्रेजी राज में मिलाने की चाल थी। इसके अंतर्गत, यदि किसी शासक की मृत्यु बिना उत्तराधिकारी हो जाती थी तो उसके दत्तक पुत्र को वैध उत्तराधिकारी नहीं माना जाता था और उस रियासत को कंपनी के अधीन कर लिया जाता था। इस सिद्धांत के अनुसार, अनेक देशी रियासतों को कंपनी ने अधिकृत कर लिया जिनमें सतारा, जैतपुर–संभलपुर, बघाट, उदयपुर, झांसी, नागपुर और करौली के अतिरिक्त अन्य अनेक रियासतें भी थीं। इसके अतिरिक्त, इस सिद्धांत के अनुसार, यदि अंग्रेजों को प्रतीत होता कि कोई देशी शासक अक्षम है तो उसके राज्य या रियासत को भी अंग्रेजी राज में मिला लिया जाता, जैसा 1856 में अवध के साथ हुआ। इस सिद्धांत के कारण देशी राजाओं में असंतोष था क्योंकि इसने उनका बच्चा गोद लेने का पारंपरिक अधिकार

सीमित कर दिया था। वे इसे अवैध मानते थे और अंग्रेजी राज के विरुद्ध कार्यवाही करना चाहते थे, लेकिन उनमें एक भी ऐसा राज्य नहीं था जो अंग्रेजों का सामना अकेला कर सके। इसका सीधा–सा अर्थ यह था कि पूरे देश को संगठित होना ही होगा। इस कार्य की बागडोर केंद्रीय स्तर पर संभालने की योजना नाना साहब पेशवा ने बनाई। देश के अन्य भागों व विभिन्न स्तरों पर भी अंग्रेजों के विरुद्ध क्रांति करने की पूर्व योजना को साकार रूप देने के प्रयत्न किए जा रहे थे।

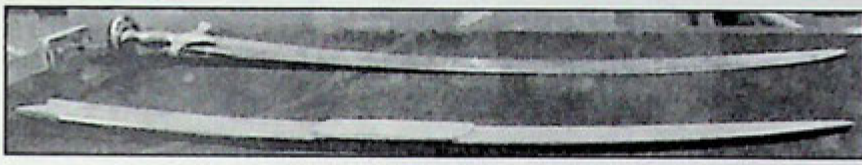

चित्रः दिल्ली के लाल किला में प्रदर्शित नाना साहब पेशवा की तलवार

नाना साहब पेशवा के बारे में कुछ जानना उचित होगा। तृतीय आंग्ल–मराठा युद्ध 1817–18 में हुआ जिसमें विजय के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने मराठा साम्राज्य पर नियंत्रण कर लिया और पेशवा बाजीराव द्वितीय को राज्य से निष्कासित कर बिठूर (कानपुर के निकट) भेज दिया और उनके लिए 80,000 पाउंड की वार्षिक पेंशन निश्चित कर दी। यह एक बड़ी रकम थी जिसके आधार पर वह शाही जीवन बिता सकते थे। बाजीराव द्वितीय का कोई पुत्र नहीं था इसलिए उन्होंने धोंधु पंत और उसके छोटे भाई को गोद ले लिया। ये बालक एक दक्कनी ब्राह्मण परिवार से संबंधित थे जिनके पिता बिठूर दरबार में दरबारी थे। इस प्रकार 1824 में जन्मा धोंधु पंत नामक बालक नाना साहब पेशवा के नाम से बाजीराव द्वितीय का उत्तराधिकारी बन गया। यह बताना भी रोचक होगा कि नाना साहब के बचपन के साथियों में तात्या टोपे, अजीमुल्ला खान और मणिकर्णिका तांबे (जो बाद में रानी लक्ष्मी बाई के नाम से विख्यात हुई) थे, और इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इन सभी ने अंग्रेजों के विरुद्ध एक–साथ अभियान चलाया।

1851 में बाजीराव द्वितीय की मृत्यु होने पर ईस्ट इंडिया कंपनी ने यह कहते हुए नाना साहब को उनका उत्तराधिकारी मानने से इंकार कर दिया कि मराठा राज्य समाप्त हो चुका है, इसलिए उनके पास कोई पद या पदनाम नहीं बचता। नाना साहब ने कंपनी से अपने पद और पेंशन को पुनर्स्थापित करने की प्रार्थना की, लेकिन उनकी एक न सुनी गई। इसके बाद 1853 में उन्होंने अजीमुल्ला खान (जो इस समय उनके वकील या

सचिव थे) को इंग्लैंड भेजकर ब्रिटिश सरकार से अपील करने को कहा, लेकिन इसका भी कोई परिणाम नहीं निकला। लंबे समय तक प्रयत्न करने के बाद 1855 में अजीमुल्ला खान भारत वापस लौट आए।

प्रसंगवश रानी लक्ष्मीबाई के बारे में बताना भी उचित होगा। मणिकर्णिका (या मनु) का विवाह झांसी के राजा गंगाधर राव से हुआ था। उनका एक पुत्र भी हुआ था लेकिन मात्र चार माह की आयु में उसका देहांत हो गया था। इस बीच, गंगाधर राव की भी मृत्यु हो गई जिसके बाद रानी लक्ष्मीबाई ने एक पुत्र को गोद लिया और उसका नामकरण दामोदर राव किया। डलहौजी ने अपने सिद्धांत के अनुसार, रानी को 60,000 रुपए प्रतिवर्ष की पेंशन देकर झांसी छोड़ने का आदेश कह सुनाया। इस प्रकार उनके पास भी असंतुष्ट होने का बड़ा कारण था। यह बात मार्च 1854 की है।

1855 में अजीमुल्ला खान के इंग्लैंड से वापस आने तक नाना साहब अंग्रेजों के विरुद्ध कोई कार्यवाही करना नहीं चाहते थे, वह केवल अपना अधिकार चाहते थे, लेकिन अंग्रेजों की हठधर्मिता के कारण उन्होंने बड़े स्तर पर अभियान चलाने की ठानी। शक्तिशाली अंग्रेजों के सामने वह खुले रूप से ऐसा कोई अभियान नहीं चला सकते थे, इसलिए उन्होंने गुप्त रूप से कार्य आरंभ किया। वह अलग–अलग स्थानों पर जाकर समर्थन और सहयोग की मांग कर रहे थे। इसी सिलसिले में वह हरिद्वार में कुंभ मेले में आए थे क्योंकि यहां उन्हें संतों व साधुओं का साथ मिल सकता था जो आमलोगों को अंग्रेजों के विरुद्ध भड़काने का कार्य कर सकते थे।

*

हमारे नायक साधु ने अपना ठिकाना कुंभ के मुख्य स्थल अर्थात् गंगा के पूर्वी तट से कुछ दूर स्थित चंडी देवी पर्वत पर बनाया। इसका ज्ञात कारण कोलाहल से बचना था कि वह अकेले में योगाभ्यास करना चाहता था, लेकिन वह अक्सर पवित्र नदी के तट पर देखा जा सकता था। उसने अनेक स्थानों की यात्रा की थी। यह लंबा–चौड़ा साधु पैदल ही एक नगर से दूसरे नगर की यात्रा कर रहा था और अपनी यात्राओं के दौरान उसने अनेक बार अंग्रेजी अत्याचारों को अपनी आंखों से देखा था। इसके बाद भी उसका मुख्य प्रयोजन ज्ञान की खोज था। इसी प्रयोजन के संबंध में वह इस समय हरिद्वार में था।

हिन्दू धर्म की विशिष्ट विशेषता है कि इसमें धर्म और देशभक्ति को अलग–अलग कर नहीं देखा जाता; लेकिन इस समय तक और इसके

बाद के कुछ समय तक भी यह युवा साधु यही कर रहा था। वह एक के बाद एक प्रमुख संतों और संन्यासियों के पास जाकर विद्याध्ययन के लिए समर्थ गुरु की तलाश कर रहा था, और इसी प्रक्रिया के दौरान एक दिन वह स्वामी पूर्णानंद के खेमे में जा पहुंचा। इस व्यक्तित्व को अलग–अलग लेखकों ने अलग–अलग नाम से पुकारा है। दीवान बहादुर हरबिलास शारदा ने अपनी पुस्तक में उन्हें पूर्णानंद और पूर्णाश्रम नामों से पुकारा है जबकि आचार्य दीपंकर ने अपनी पुस्तक में उन्हें स्वामी संपूर्णानंद सरस्वती के नाम से वर्णित किया है।

कहा जाता है कि स्वामी पूर्णानंद इस समय लगभग 108 वर्ष की आयु के अत्यंत वृद्ध संत थे, लेकिन वह पूरी तरह स्वस्थ व सक्रिय थे और उनके शिष्य बड़ी संख्या में थे। यह भी कहा जाता है कि उनके शिष्य देश के विभिन्न भागों में क्रांतिकारी गतिविधियों का संचालन कर रहे थे, जिनमें मुख्य कार्य सूचना का आदान–प्रदान था।

जब साधु ने अनुमति लेकर उनकी कुटिया में प्रवेश किया तो अपने सामने ओजस्वी संन्यासी को देखकर पूर्णानंद की आंखों की चमक और गहरी हो गई। उन्होंने आशीर्वाद के बाद उस साधु के आने का प्रयोजन पूछा। उसने बताया कि वह व्याकरण पढ़ना और ज्ञान की खोज करना चाहता था।

पूर्णानंद के चेहरे पर प्रसन्नता उभर आई। उन्होंने कहा, "समय की मांग है कि हम पहले स्वाधीनता की खोज करें। आप जैसे नौजवान को देश के लिए काम करना चाहिए।"

साधु स्वयं को विद्याध्ययन तक ही सीमित रखना चाहता था। उसने यही विचार व्यक्त किए। पूर्णानंद ने यह कहकर भेंट समाप्त कर दी कि वह बहुत वृद्ध हो चुके थे और उसे पढ़ाने में असमर्थ थे। साधु द्वारा कुछ जोर दिए जाने पर उन्होंने कहा कि इस प्रयोजन के लिए उसे मथुरा जाकर स्वामी विरजानंद से भेंट करनी चाहिए।

साधु निराश होकर खेमे से बाहर निकल गया। वह समझ नहीं पा रहा था कि उसका ध्येय किस प्रकार पूरा हो सकता था। उसने अखाड़े में अनेक शिष्यों को पढ़ाई करते देखा था। यदि इतने शिष्यों को स्वामी जी पढ़ा सकते थे तो उसे क्यों नहीं, यह प्रश्न उसके मस्तिष्क में कौंध रहा था। पूछताछ में उसे यह भी ज्ञात हुआ कि स्वामी विरजानंद 81 वर्ष की

आयु के थे और बचपन से दृष्टिहीन थे। उसे समझ नहीं आ रहा था कि एक अंधा व्यक्ति उसे किस प्रकार अच्छी तरह पढ़ा पाता।

इस घटना को हुए एक सप्ताह बीत गया। साधु को प्रतीत हो रहा था कि स्वामी पूर्णानंद ही उसकी इच्छा पूरी कर सकते थे, इसलिए वह दोबारा उनके अखाड़े में पहुंच गया। पूर्णानंद के सामने लाए जाने के लिए साधु को अधिक प्रतीक्षा भी नहीं करनी पड़ी।

पूर्णानंद ने साधु को अर्थपूर्ण दृष्टि से खंगाला। एक संक्षिप्त वाक्य में कहा, "वहां बैठ जाओ और देखो क्या होने वाला है।"

साधु के लिए यह किसी रहस्य से कम नहीं था। उसका मस्तिष्क बार–बार विश्लेषण करने का प्रयत्न कर रहा था कि वहां क्या हो सकता था। वह किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सका था। क्या स्वामी जी उसे टालने के लिए समय चाह रहे थे? या वास्तव में ही वहां कुछ अजूबा होने वाला था? अंत में हारकर, साधु ने अपनी आंखें बंद कर लीं और ध्यान लगाने की चेष्टा करने लगा, लेकिन ध्यान स्थिर करने में स्वयं को असमर्थ पाया।

कुछ देर बाद, साधु को कक्ष में कुछ गति का आभास हुआ। उसने आंखें खोली तो पाया कि लगभग उसी की आयु के दो युवक स्वामी जी के सामने प्रणाम कर रहे थे। स्वामी जी ने साधु को भी थोड़ा और निकट आने को कहा। साधु ने दोनों युवकों को खोजपूर्ण दृष्टि से देखा। दोनों ही स्वाभिमानी व निर्भीक दिखने वाले आकर्षक युवक थे। कपड़े साधारण अवश्य थे लेकिन उनके व्यक्तित्व में कोई विशेष बात अवश्य थी। शीघ्र ही उसे ज्ञात हो गया कि आगंतुक नाना साहब और अजीमुल्ला खां थे। उनके आने का प्रयोजन पूर्णानंद का समर्थन प्राप्त करना था, लेकिन जब उन्हें पता चला कि वह तो पहले से ही जनजागरण का कार्य कर रहे थे, अंग्रेजों के विरुद्ध लोगों को उकसा रहे थे तो उन्होंने खुलकर अपनी योजना समझानी आरंभ की।

साधु समझ गया था कि स्वामी पूर्णानंद उसे केवल पढ़ाई तक ही सीमित नहीं रहने देना चाहते थे, बल्कि उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसे विस्तृत योजना का महत्त्वपूर्ण भाग बनाना चाहते थे।

नाना साहब ने कहा, "हम अंग्रेजों के विरुद्ध तभी सफल हो सकते हैं जब सारा देश एक–साथ उठ खड़ा हो।" उन्होंने यह भी बताया कि अभी तक उनका प्रभाव अवध, बुंदेलखंड तक ही सीमित था, और उससे

कार्य नहीं चलने वाला था। वह कोई ऐसा मार्ग खोजना चाहते थे जिससे दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्र में भी समर्थन प्राप्त किया जा सके।

पूर्णानंद ने आश्वस्त किया कि इस क्षेत्र में क्रांति अवश्य होगी।

"लेकिन कैसे? कौन कर सकेगा इस कार्य को?" नाना साहब ने प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा।

"आपके सामने ही बैठा है वह," पूर्णानंद ने कहा।

दोनों की निगाहें साधु की ओर घूम गईं। उन्होंने उसके व्यक्तित्व का आकलन किया और प्रभावित प्रतीत हुए।

"इनसे बात कर ली है आपने?" नाना साहब ने पूछा।

"नहीं, मैं ऐसी किसी योजना में सम्मिलित नहीं हूं," पूर्णानंद के उत्तर देने से पहले साधु ने प्रतिवाद किया। "मैं केवल व्याकरण पढ़ना चाहता हूं और ज्ञान की खोज करना चाहता हूं।"

नाना साहब और अजीमुल्ला की भौंहें सिकुड़ गईं, वे शायद सोच रहे थे कि क्या इस प्रकार की अनिश्चितता के साथ अंग्रेजों के विरुद्ध अभियान चलाया जा सकता था, लेकिन स्वामी पूर्णानंद की आंखों में आश्वस्त मुस्कुराहट भरपूर विद्यमान थी।

इस भेंट का संकेत राजयोगी आचार्य भद्रकाम वर्णी द्वारा संपादित पुस्तक *योगी का आत्मचरित्र* में किया गया है, लेकिन इस लेखक का भेंट की विधि में मतांतर है। पारिस्थितिक साक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए भेंट उपरोक्त वर्णन के अनुसार हुई होगी, ऐसा हमारा अनुमान है। इसी प्रकार का संकेत इं. आदित्यमुनि वानप्रस्थ और डा. वेदव्रत 'आलोक' द्वारा संपादित पुस्तक *अपना जन्मचरित्र* में भी दिया गया है जिसमें नाना साहब की साधु से व्यक्तिगत भेंट के बारे में बताया गया है और इस पुस्तक के अनुसार, इस संदर्भ का स्रोत स्वयं साधु का कलकत्ता में कहा गया प्रवचन है जो उसकी मृत्यु के बाद ही सामने आया। यह बता देना भी उचित होगा कि अनेक विद्वान और लेखक कलकत्ता में हुए इस प्रवचन के अस्तित्व को ही नकारते हैं। जब लेखक ने आर्यमुनि वानप्रस्थी (पूर्व नाम लक्ष्मीचंद्र शर्मा), जिन्होंने दीवान बहादुर हरबिलास शारदा की पुस्तक का अनुवाद किया है, से व्यक्तिगत साक्षात्कार में इस बारे में बात की तो उन्होंने संपूर्ण कलकत्ता प्रवचन को ही 'फर्जी' बताया।

5
मानसिक तैयारी

कुंभ मेला से प्रस्थान किए हुए साधु को लगभग एक वर्ष बीत चुका था। इस दौरान उसने अनेक स्थानों की यात्रा की थी। स्वामी पूर्णानंद द्वारा आह्वान करने के बाद भी वह अपनी जिद्द पर अड़ा रहा था। वह विद्याध्ययन और ज्ञान प्राप्त करना चाहता था, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

अप्रैल 1856 तक वह एक संत से दूसरे तक, एक स्थान से दूसरे को भटक रहा था, पुस्तकें पढ़ रहा था, भजन–कीर्तन कर रहा था, धर्म की विभिन्न विद्याओं का अध्ययन कर रहा था, लेकिन जहां तक आत्मिक संतोष का प्रश्न था, वह अभी भी उससे कोसों दूर था। हाल ही में उसकी रुचि 'नाड़ी चक्र' में हो गई थी, विषय बहुत कौतुहल–भरा था, लेकिन बात पूरी तरह समझ में नहीं आ रही थी, क्योंकि संदेह के अनेक बिंदु थे। पहाड़ों पर उचित गुरु की तलाश में काफी समय भटकने के बाद उसने काशीपुर (अब उत्तराखंड राज्य में) से मैदानी इलाके की ओर रुख किया। अपनी अधिकृत जीवनी में वह कहता है कि हरिद्वार से चलकर वह इन स्थानों पर गया – ऋषिकेश, श्रीनगर, रुद्रप्रयाग, शिवपुरी, गुप्तकाशी, गौरीकुंड, बद्रीनारायण, रामपुर, काशीपुर व द्रोणसागर।

पहाड़ों पर भूख और थकान के रूप में उसने बहुत कष्ट झेले थे, फिर भी जिस ज्ञान की खोज में वह था, वह अभी भी आंखों के सामने न था, लेकिन उसने हार नहीं मानी थी। उसे ज्ञात था कि सच्चे गुरु की खोज में अक्सर ऐसे कष्ट उठाने पड़ते हैं। वह पहले नैनीताल की ओर निकला लेकिन बीच मार्ग से वापस मुड़कर मुरादाबाद, संभल होकर गढ़मुक्तेश्वर आ पहुंचा। वह अपने संदेहों का निवारण भी करता जा रहा था ताकि इतने सारे पंथों के मध्य अपने सही लक्ष्य को खोज सके।

गढ़मुक्तेश्वर में गंगा के रेतीले तट पर बैठा साधु विचार कर रहा था कि उसे अब क्या करना चाहिए। स्वामी पूर्णानंद सहित कुछ संतों ने उसे परामर्श दिया था कि उसे स्वामी विरजानंद के पास जाना चाहिए, लेकिन वह बचपन से अंधे थे। वह समझ नहीं पा रहा था कि एक नेत्रहीन सज्जन उसे वह राह किस प्रकार दिखा पाएंगे जिसकी वह खोज में था। अपने हृदय में उठ रहे भावनाओं के ज्वार को भटकाने के लिए वह आसपास देखने लगा, लेकिन सामने पवित्र नदी की उफनती जलधारा और उसके पीछे दूर तक फैली हरियाली भी उसकी भावनाओं को शांत नहीं कर पा रही थी। अनिश्चय के भाव से उसने देखा कि रेतीले घाट पर अनेक श्रद्धालु स्नान कर रहे थे। उसके बाईं ओर दिल्ली को बरेली से जोड़ता पुल था और दूसरी ओर ग्रामीणों के दो समूह गोबर के उपलों व लकड़ी से अंतिम संस्कार कर रहे थे।

इधर देश की परिस्थितियां अत्यंत चिंताजनक थीं। अंग्रेजों के अत्याचार और शोषण बढ़ते जा रहे थे। साधु स्वयं को ज्ञान की खोज में ही लगाना चाहता था, लेकिन वह उन संतों की बात पर गौर नहीं करना चाहता था कि दर्शन व आध्यात्म समाज से विमुख होकर प्राप्त नहीं किया जा सकता। गुरु की खोज पूरी नहीं हुई थी और देश की परिस्थितियां कुछ ऐसी थी कि उस जैसा हट्टा-कट्टा नौजवान अपनी नाड़ियों में रक्त का उबाल देख पा रहा था। वह देश के भिन्न-भिन्न भागों में घूम चुका था। उसे समाज की स्थिति का अच्छा व्यक्तिगत ज्ञान था, और आध्यात्मिक ज्ञान अभी भी अंधेरी सुरंग के पार एक मद्धिम टिमटिमाती रोशनी के समान था, उस तारे के समान जो बहुत ही क्षीण-सा हर समय अपना स्थान बदलता प्रतीत होता है। स्वामी पूर्णानंद और नाना साहब से भेंट करने के बाद निश्चित रूप से उसकी मानसिकता में कुछ परिवर्तन आया था।

गंगा घाट के किनारे बैठा साधु कभी विचारों में उतरता, कभी उद्विग्न होकर इधर-उधर दृष्टि दौड़ाता, लेकिन कहीं कुछ संतोष नहीं पाता था। गहन विचार में डूबा उसका ध्यान अचानक एक शोर से टूट गया। उसने सिर उठाकर देखा तो पाया कि लोग पुल की ओर देखते हुए इशारे कर रहे थे जिसके मध्य में एक व्यक्ति रेलिंग पर खड़ा था, शायद वह आत्महत्या करना चाहता था। साधु कठिनता से उस पर दृष्टि जमा ही पाया था कि एक गोली की आवाज से वातावरण गूंज उठा, जिसके साथ ही रेलिंग पर खड़ा व्यक्ति तीव्रता से बहते जल में जा समाया, जिसके कारण लहरें कुछ देर के लिए छिटकीं और फिर सबकुछ पहले की तरह सामान्य हो गया।

लोग अब जोर–जोर से बात करते हुए अनुमान लगाने लगे थे कि क्या हुआ होगा। जब उन्होंने एक सैनिक टुकड़ी को पैदलमार्च करते पुल से बाहर निकलते देखा जिसके आगे एक जीप चल रही थी जिसमें शायद कोई ब्रिटिश अधिकारी बैठा था, तो उन्हें महसूस हुआ कि उसी टुकड़ी ने ही उस व्यक्ति को गोली मारकर गंगा में फेंक दिया था। जल्दी ही उनकी वार्ता का विषय अंग्रेजों द्वारा देशी लोगों पर ढाए जा रहे अत्याचार थे।

अपनी विस्तृत घुमक्कड़ी के दौरान साधु ने विदेशी शासकों के हाथों अनेक प्रकार के अत्याचारों की बात सुनी थी, लेकिन आज वह उनकी बर्बरता का एक नमूना अपनी आंखों से साक्षात् देख रहा था। घर त्यागने से पहले वह अपने जमींदार पिता से भी ऐसे अत्याचारों की बातें सुन चुका था। अब वह अपने मन में होने वाले परिवर्तन को महसूस कर रहा था। भावनाएं मचल रही थी। देशभक्ति की भावना भी ठाठें मारने लगी थी। क्या करूं–ज्ञान की खोज या विदेशी अत्याचार के विरुद्ध युद्धघोष। वह अनिर्णय की स्थिति में था। अपने स्थान पर और बैठना संभव प्रतीत नहीं हुआ तो वह गंगा किनारे टहलने लगा। एक दिशा में लगभग सौ कदम जाता, वापस मुड़ता और फिर लगभग इतना दूर ही जाता, और फिर मुड़ जाता, वह काफी समय तक ऐसा करता रहा। मन पहले से ही शांत नहीं था, अब तो वह विद्रोह–सा करता महसूस हो रहा था। बेचैनी कम न हुई तो वह मिट्टी में ही बैठ गया। आंखें बंद कर लीं कि कुछ देर ध्यान लगाने से शांति महसूस होगी, लेकिन मन पर नियंत्रण करना कठिन प्रतीत हो रहा था। ज्ञान का मार्ग तो अभी मिला नहीं था, और अब मन एक नई दिशा में भी भटकने लगा था।

हमारा अनुमान है गढ़मुक्तेश्वर में ऐसा कुछ हुआ था जिसने उस साधु की मानसिकता को पूरी तरह बदल डाला था। शायद इस प्रकार की कोई घटना हुई थी क्योंकि घोर विरोधी लोगों से छुटकारा पाने के लिए अंग्रेज उन्हें मारकर गंगा में फेंक दिया करते थे।

बहुत देर तक आंखें बंद करने के बाद जब शांति नहीं मिली तो उसने फिर आंखें खोल दीं। गंगा में किनारे के निकट ही एक शव बहता जा रहा था। यह कुछ फूला हुआ था, शायद जल में काफी समय से था। यह कदापि वह शव नहीं था जिसे अभी–अभी जलधारा में फेंका गया था। उसे देखकर उसके मन में एक विचार आया।

उसने 'नाड़ी चक्र' के बारे में पढ़ा था और कुछ योगियों ने भी उसे इस बारे में बताया था। इसके अनुसार, शरीर में सात बिंदु हैं जो ऊर्जा के

स्रोत हैं और उन्हीं के आधार पर कुंडलिनी चालन होता है। इससे संबंधित जो पुस्तकें उसके पास थीं, वे थीं – *सबसंद हट–प्रदीपिका, योगबीज और घेरंड संहिता*। मन में कुछ निश्चय कर वह उठकर उस शव को किनारे खींच लाया। कमंडल से चाकू निकाला जो उसे जंगल में भोजन उपलब्ध कराता था। उसी से उस शव की चीरफाड़ उन स्थानों पर करने लगा जहां पर उसे नाड़ी चक्र होने का ज्ञान था। उसने स्वयं कहा है कि इन पुस्तकों में दिए गए नाड़ी चक्र के वर्णन को वह समझने में असमर्थ था। इस चीरफाड़ में उसे कुछ मिला नहीं, पुस्तक के वर्णन और शव में कहीं परस्पर मेल न था। इसी के साथ, एक और विचारधारा में उसकी रुचि समाप्त हो चुकी थी। उसने शव को वापस जल में बहा दिया, साथ ही उससे संबंधित पुस्तकों को भी गंगा की धारा में प्रवाहित कर दिया।

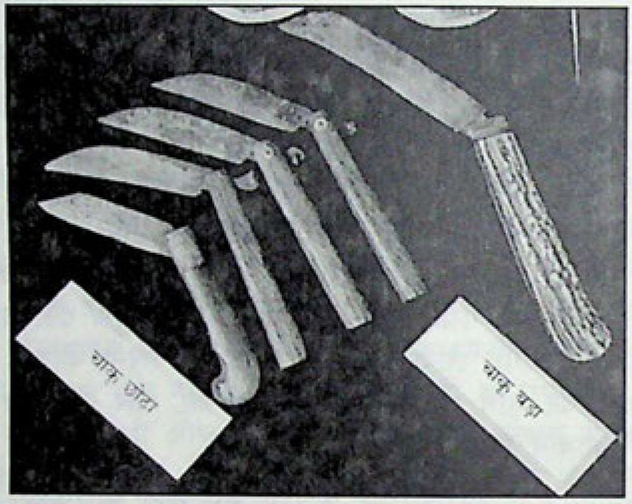

चित्रः साधु द्वारा प्रयुक्त कुछ चाकू, ऋषि उद्यान, अजमेर

उसने इस घटना का अपनी आत्मकथा में निम्न प्रकार वर्णन किया है जो दँ *थियोसोफिस्ट* नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी–

> मैं दृढ़ता से जल में उतरा और शीघ्र ही शव को बाहर लाकर किनारे पर लिटा दिया। तब मैं एक बड़े चाकू से इसे उतनी अच्छी तरह चीरने लगा जितनी अच्छी तरह से मैं कर सकता था। मैंने कमल [हृदय] को निकालकर देखा और नाभि से पसलियों तक व सिर व गर्दन के भाग को चीरा। मैंने उनकी सावधानीपूर्वक परीक्षा की और पुस्तकों के वर्णन से उनका

> मिलान किया। यह देखकर कि वे बिल्कुल नहीं मिलते थे मैंने पुस्तकों को फाड़कर शव के बाद उन्हें भी नदी में बहा दिया। धीरे–धीरे उस समय से मेरा निष्कर्ष था कि विज्ञान और योग पर वेद, उपनिषद्, पतंजलि व सांख्य के अतिरिक्त सभी पुस्तकें गलत थीं।

निराश और अनिर्णयग्रस्त, साधु ने गंगा किनारे से विदा ली। अब तो लक्ष्य भी धुंधला गया था, मस्तिष्क में अनिश्चय घर करने लगा था। इतने वर्ष भटकने के बाद भी अभी तक ज्ञान का कोई सूत्र नहीं मिला था जिसपर उसका हृदय टिक पाता। योग क्रिया अवश्य सीखी थी। उसे ज्ञात था कि सच्चा ज्ञान ऐसे ही प्राप्त नहीं हो पाता, लेकिन उसके लिए कहां जाया जाए, यह निर्णय करना भी आसान नहीं था। बस, अब तो एक ही नाम सामने आ रहा था – स्वामी विरजानंद का। साथ ही शंका भी उत्पन्न हुई कि क्या नेत्रहीन गुरु उसका प्रयोजन सिद्ध करने में उपयुक्त मदद दे पाएगा। एक अन्य गुरु हो सकते थे स्वामी पूर्णानंद, जिनसे उसने हरिद्वार में भेंट की थी, लेकिन वह उसका क्रांति में योगदान चाहते थे, जबकि वह स्वयं केवल ज्ञान की खोज करना चाहता था। वह जानता था कि सही गुरु की खोज के लिए कठिन परिश्रम व प्रयास की आवश्यकता थी। वह यहां–वहां बहुत भटका था, लेकिन अभी तक अंधकार में ही हाथ–पैर मार रहा था।

जहां तक क्रांति का प्रश्न था, अंग्रेज बहुत शक्तिशाली थे, आर्थिक व सैनिक दोनों प्रकार से। विस्तृत भ्रमण ने उसे अनुभव दिया था कि आमलोग अकेले ही अंग्रेजों का सामना नहीं कर सकते थे। पूरे भारतवर्ष में कोई भी ऐसा देशी राजा नहीं बचा था जो अंग्रेजों को टक्कर दे सके, और यह भी सत्य था कि वे सभी एक–साथ संगठित नहीं हो सकते थे। छोटे विद्रोह तो पहले भी हुए थे, लेकिन परिणाम कुछ नहीं निकला था। परिस्थिति विकट थी। अंग्रेजों से स्वाधीनता प्राप्त करना असंभव–सा ही प्रतीत हो रहा था। बस एक आशा की किरण थी, वह भी बहुत क्षीण कि देशी सिपाही विद्रोह कर दें, लेकिन यह संभव नहीं लग रहा था। उसने कुछ एक मौकों पर सिपाहियों द्वारा विद्रोह के समाचार सुने थे, लेकिन उन्हें भड़काना कोई आसान काम नहीं था, वह भी पूरे भारत में फैले सिपाहियों को। दूसरा, देश में कंपनी रोजगार का मुख्य साधन बन चुकी थी। आम लोग सिपाहियों का सम्मान करते थे, क्योंकि देश में घटते रोजगार और बिगड़ती अर्थव्यवस्था में उनकी आय कुछ ठीक–ठाक थी। उन्हें विद्रोह के लिए सहमत करने के लिए विशाल संसाधनों की आवश्यकता होती

जो कहीं दृष्टव्य नहीं थे। वेल्लोर का विद्रोह हुआ था धार्मिक प्रतीकों के कारण। ऐसा भी कोई कारण सामने नहीं था, जो थे भी वे बहुत मामूली थे। कुल मिलाकर स्थिति निराशाजनक थी।

एक बार तो साधु के मन में आया कि वह मेरठ की ओर कूच करे जो यहां से नजदीक ही था। उसने कमंडल में गंगाजल भरा और सड़क की ओर रुख किया। चलते हुए उसने अपनी उद्विग्नता को दबाते हुए स्वयं को शांत रखने का प्रयत्न किया और आकाश की ओर देखते हुए अपने मूल लक्ष्य की ओर बढ़ने का निश्चय किया, जो था गुरु की तलाश। उसने स्वयं को बुदबुदाकर कहा कि वह गुरु की खोज में एक बार अयोध्या, बनारस व प्रयागराज जाएगा और विफल रहने पर मथुरा जाकर स्वामी विरजानंद का ही गुरु के रूप में वरण करेगा।

साधु ने गंगा के निकटस्थ नगरों में से होकर चलना आरंभ किया, उसका तात्कालिक गंतव्य था कानपुर। वह गंगा के साथ–साथ चलता रहा और बुलंदशहर, अलीगढ़, कासगंज, फर्रुखाबाद, कन्नौज, बिठूर से होते हुए कानपुर जा पहुंचा। अपनी जीवनगाथा में उसने बताया है कि जब उसने श्रंगीरामपुर को पार कर कानुपर में प्रवेश किया तो 1912 संवत पूर्ण हुआ, अर्थात् उस दिन 5 अप्रैल 1856 था। यह जानना भी महत्त्वपूर्ण होगा कि इससे मात्र दो सप्ताह पहले अवध नवाब वाजिद अली शाह, जिसकी रियासत को अंग्रेजों ने झूठे आरोप लगाकर अधिकार करने के बाद उसे लखनऊ से निकाल बाहर किया था, कानपुर से होकर निकला था और वहां नाना साहब के अधिकारी उससे मिले थे। इस घटना के बारे में हम कुछ विस्तार से इस पुस्तक में बताएंगे। यह संभव है कि हमारे नायक ने इस योजना–निर्माण में प्रतिभागिता की थी, जिसके फलस्वरूप वाजिद अली शाह की बेगम हजरत महल के नेतृत्व में सबसे घनघोर क्रांति का प्रस्फुटन अवध में ही हुआ था।

यह भी कोई आश्चर्य की बात नहीं कि गढ़मुक्तेश्वर और कानपुर के मध्य प्रमुख नगरों में अंग्रेजों की शक्तिशाली उपस्थिति थी और इन सभी स्थानों में क्रांति हुई। बिठूर व कानपुर ने नाना साहब के नेतृत्व में अनेक युद्धों को देखा तो बुलंदशहर में नवाब वलीदाद खान ने अंग्रेजों के विरुद्ध बिगुल फूंक दिया। साधु ने इन सभी स्थानों में अंग्रेजों के विरुद्ध भावनात्मक उफान महसूस किया था, जबकि बिठूर व कानपुर में यह भावना तो उसी समय से ठाठें मारने लगी थी। उसे प्रतीत होने लगा था कि धीरे–धीरे

राष्ट्र विदेशी शासकों के विरुद्ध उठ खड़े होने को तत्पर हो रहा था। इन सबके बाद भी वह अपने मूल लक्ष्य की ओर कदम बढ़ाता रहा।

अपनी जीवनी में साधु कहता है कि 5 अप्रैल 1856 से आरंभ होकर पांच माह की अवधि में कानपुर व इलाहाबाद के मध्य अनेक स्थानों में गया और भाद्रपद (सितंबर 1856) के आरंभ में वह मिर्जापुर पहुंचा और अगले मास बनारस आया। इन स्थानों पर उसने अनेक विद्वानों से भेंट की, लेकिन उसे कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जिसका वह गुरु के रूप में वरण कर सकता था, इसलिए वह स्पष्ट रूप से कहता है कि वह वहां केवल 12 दिन ठहरा और उसके बाद "उस लक्ष्य के लिए अपनी यात्रा पुनः आरंभ की जिसकी वह खोज में था"। इस बिंदु को स्पष्ट रूप से जोर देकर कहना सही होगा कि इन सभी स्थानों में वह योग्य गुरु की खोज करने में विफल रहा था जबकि उसने हर जगह लोगों में बेचैनी महसूस की थी। बनारस में भी उसने देशभक्ति की भावनाओं का उभार कुछ अधिक ही देखा था इसलिए वह वहां अधिक समय तक नहीं रुक सका। जब आमलोग व विद्वान एक–दूसरे से भेंट करते हैं, समकालीन घटनाओं की चर्चा अत्यंत सामान्य है, और यह संभव नहीं कि इस प्रकार की भावनाओं की चर्चा वहां नहीं हुई हो। जिन शास्त्रियों से साधु वहां मिला था, उन्होंने उसे अवश्य बताया था कि 1780 में उनके निर्दोष राजा चैत सिंह को बिना किसी आधार अंग्रेजों ने बंदी बना लिया था। आने वाले दिनों में इसी क्षेत्र में बिहार के जगदीशपुर के जमींदार बाबू कुंवर सिंह अंग्रेजों के छक्के छुड़ा देंगे।

बनारस में भी गुरु की खोज करने में असमर्थ रहने पर साधु ने निश्चय किया कि वह चुनार जाकर अंतिम प्रयास करेगा और यदि वह वहां भी विफल होता है तो वह मथुरा चला जाएगा। चुनार को उस समय चंडालगढ़ कहा जाता था, वहां वह 10 दिन तक ठहरा। यहां भी उसने देखा कि 1780 में जब हेस्टिंग्स को बनारस से पीछे हटकर वहां डेरा डालना पड़ा था तो उसने लोगों पर किस प्रकार के घोर अत्याचार किए थे, और लोगों में अंग्रेजों के विरुद्ध रोष की ज्वाला भड़क रही थी।

साधु जहां भी गया, उसने देखा कि क्रांति में भाग लिए बिना गुरु की खोज करने का अन्य कोई मार्ग नहीं था जिसके लिए लोग तैयार प्रतीत हो रहे थे। वह अभी भी व्याकरण और वेदों का अध्ययन करना चाहता था, इसलिए उसने अपने मूल उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए मथुरा जाकर

स्वामी विरजानंद का वरण करने का निश्चय किया, साथ ही उसने अपने मन को दृढ़ करते हुए निश्चय किया कि यदि वह भी क्रांति में भागीदारी करने को कहेंगे तो वह इस बार पीछे नहीं हटेगा। यह बात सत्य है कि साधु ने अपनी जीवनी में कहा है कि वह चुनार से नर्मदा के उद्गम की ओर चला गया, लेकिन उसने यह केवल क्रांति में अपनी भागीदारी को छुपाने के लिए कहा है, क्योंकि इस प्रकार के किसी भी योगदान की स्वीकारोक्ति का सीधा अर्थ था कि उसका मूल उद्देश्य कभी प्राप्त नहीं हो सकता था। आने वाले समय में जिस प्रकार अंग्रेजों ने क्रांतिकारियों से प्रतिशोध लिया, उसे देखते हुए उसका मूल अभिप्राय कभी पूरा नहीं हो पाता जिसने हमारे राष्ट्रीय जीवन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

गढ़मुक्तेश्वर से चुनार तक साधु ने गंगा के किनारे–किनारे बसे नगरों से होकर यात्रा की थी, और अब उसने मथुरा जाने के लिए यमुना के तट के साथ चलने का निश्चय किया जिसके लिए वह पहले प्रयागराज गया। यह केवल मात्र संयोग नहीं हो सकता कि इस मार्ग के नगरों ने भी आने वाले समय में क्रांति की भीषण ज्वाला देखी, जिनमें अलीगढ़ व आगरा भी सम्मिलित थे।

यह बताना उचित होगा कि साधु की तीन भिन्न जीवनियां हैं और हमने उपर्युक्त सूचनाओं को उनकी अधिकृत मानी जाने वाली जीवनी से लिया है। इसका प्रकाशन *दॅ थियोसोफिस्ट* नामक पत्रिका में तीन किश्तों में हुआ था। इनके बारे में भी इस पुस्तक में आगे बताया गया है।

6
तारे का सूर्य में परिवर्तन

आगे बढ़ने से पहले मैं पाठकों से एक प्रश्न पूछना चाहता हूं। एक व्यक्ति जो अपनी आत्मकथा में छोटी–छोटी चीजों का भी वर्णन कर रहा हो, जैसे उसने शव की चीरफाड़ की, एक गुफा में ठहरा, एक स्थान पर दूध पिया, एक स्थान पर चावल खाने सर्वथा छोड़ दिए, एक व्यक्ति ने जंगल में रक्षा के लिए मुझे सोटा दिया लेकिन मैंने उसे फेंक दिया आदि अनेक प्रसंग, और वह व्यक्ति अपने जीवन के पूरे तीन वर्ष का वर्णन न करे, तो उसका क्या अभिप्राय निकाला जा सकता है? वह व्यक्ति जो अपनी आत्मकथा में प्रत्येक छोटे–बड़े स्थान व नगर के बारे में बता रहा हो जहां वह गया हो, और अचानक लगभग सितंबर–अक्टूबर 1856 से किसी स्थान का वर्णन करने से बच रहा हो, उसके बारे में शायद यही कहा जा सकता है कि वह उस काल में कुछ ऐसा कर रहा था जिसके बारे में वह बताना नहीं चाहता। यह प्रश्न और भी अधिक प्रासंगिक उस समय हो उठता है जब हम पाते हैं कि उसने इन तीन वर्षों की अवधि से पहले अनेकों सैनिक छावनियों वाले नगरों में जाने की बात प्रत्यक्ष रूप से स्वीकारी हो, और ये तीन वर्ष वह अवधि हो जब 1857 की महान क्रांति हुई हो जिसे हम भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के रूप में जानते हैं।

निश्चित ही, इस महान साधु ने अपने महान उद्देश्य को रहस्य के आवरण में रखने का निश्चय किया था। यह संदेह उस समय और भी बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि उसने अपनी आत्मकथा को अटपटे ढंग से, बिना किसी निष्कर्ष पर पहुंचे समाप्त कर दिया। वह पिछले दस वर्ष से किसी उद्देश्य की खोज में भटक रहा था, और हर घटना और हर स्थान का वर्णन कर रहा था, और फिर उसने अटपटे ढंग से चुप्पी ओढ़ ली। नगर–नगर भटकने की दस वर्ष की अवधि में वह कहीं भी अंग्रेजों का

वर्णन नहीं करता। ऐसा संभव ही नहीं कि इस पूरी यात्रा में उसका सामना किसी न किसी मोड़ पर अंग्रेजों या प्रशासन से न हुआ हो जिनका इस पूरे क्षेत्र में वर्चस्व था। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसने जानबूझकर इस पूरे संदर्भ को ही ओझल कर दिया।

इस अवधि को रहस्यमयी बनाने का उद्देश्य भी स्पष्ट प्रतीत होता है क्योंकि यह महान क्रांति सफल नहीं हुई थी, न ही इतनी विशाल क्रांतियों को पांच–दस वर्ष की अवधि में दोबारा भड़काया जा सकता था। साथ ही, अंग्रेज हर उस व्यक्ति को कठोर दंड दे रहे थे जो किसी भी प्रकार से, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से 1857 की क्रांति से जुड़ा हो, इसलिए साधु ने शायद अपने उच्चतर उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए स्वयं को बचाने का निश्चय कर रखा था। यह प्रमाणित है कि अंग्रेजों ने यदि किसी गांव के एक व्यक्ति को भी क्रांति से जुड़ा पाया तो उन्होंने पूरे गांव को ही नष्ट कर दिया, ऐसे अनेक उदाहरण हैं। उसने यदि अपने योगदान का वर्णन नहीं किया है तो इसका कारण भयभीत होकर स्वयं को बचाना न होकर उच्चतर लक्ष्य को प्राप्त करना था जिसके लिए उसने घर व परिवार का परित्याग किया था और नगर–नगर गुरु की खोज में भटक रहा था।

वह श्रेष्ठतर उद्देश्य था भारत के लोगों की संस्कृति बचाने का, उन्हें इस प्रकार विकसित करने का जिससे वे अपना भला–बुरा सोच सकें और अपना व्यक्तिगत, आध्यात्मिक व सामाजिक विकास कर सकें। इन तीन वर्षों के अज्ञातवास के बाद के जीवन में वही साधु अनेक बार राष्ट्रवादी भावना भी दिखाता है, न केवल यह, 1857 के संदर्भ में सीधा टिप्पणी करता है। हम थोड़ी कल्पना व उपलब्ध पारिस्थितिक प्रमाणों का सहारा लेकर इन तीन वर्षों के कुछ भाग का विश्लेषण करने का प्रयास अवश्य ही कर सकते हैं।

जब साधु प्रसिद्ध हो गया और उसके अनेक शिष्य बन गए, उसके बाद एक से अधिक अवसरों पर उसने कहा, "अपनी मृत्यु से पहले मैं अपने माता–पिता का नाम और पिछले जीवन के घटनाक्रम को उद्घाटित कर दूंगा। यदि मैं इस समय ऐसा करूं तो गोलमाल हो जाएगा।" इस कथन के दो भाग हैं – एक परिवार से संबंधित है और दूसरा उसकी यात्राओं से संबंधित है जो उसने घर त्यागने के बाद की थीं। अपना घर छोड़ने के तुरंत बाद ही उसकी भेंट अपने पिता से हुई थी जिसके बारे में उसने बताया भी था, इसलिए परिजनों का नाम व अन्य विवरण बताने से कोई

अंतर नहीं पड़ता। यह निश्चित रूप से दूसरा भाग है जिसके बारे में वह कुछ भी कहना नहीं चाहता था। किसी संन्यासी के लिए शायद ही ऐसा कुछ होता है जिसे वह छुपाना चाहे; निश्चित रूप से 1857 की क्रांति में उसकी भूमिका थी जिसे वह बताना नहीं चाहता था, क्योंकि इससे वह अंग्रेजों के क्रोध का शिकार हो जाता, जिसके कारण उसका वह श्रेष्ठतर लक्ष्य भी नष्ट हो जाता जिसके लिए वह काम करने की आकांक्षा रखता था।

इस साधु के व्यक्तित्व को जानने के लिए आवश्यक है कि उसके द्वारा लिखे व बोले गए वचनों का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया जाए। उसने यदि अपने तीन वर्ष के काल को छुपाया है तो क्या इसका अर्थ सत्य को छुपाना है। इस प्रयोजन से हमने इस साधु द्वारा दी गई सत्य की परिभाषा को भी देखने का प्रयत्न किया है। उसने सत्य की परिभाषा इस प्रकार दी है–

> ...अर्थात् जो सत्य है उस को सत्य और जो मिथ्या है उस को मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है, इसलिए वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए विद्वान आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश व लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें, पश्चात् वे स्वयम् अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें।

इस उद्धहरण में पाठकों को कुछ त्रुटिपूर्ण हिन्दी प्रतीत हो सकती है। वास्तविकता यह है कि इस साधु की मातृभाषा गुजराती थी और संस्कृत पर प्रवीणता प्राप्त थी, फिर भी उसने हिन्दी को देश की संपर्क भाषा बनाने के लिए अपना सारा साहित्य हिन्दी में लिखा और इस प्रकार संपूर्ण देश को एक सूत्र में पिरोने का अनूठा कार्य किया।

एक अन्य स्थान पर साधु लिखता है कि जो–जो सृष्टिक्रम के अनुकूल है, वह सत्य और जो–जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध हो, वह असत्य है। लेकिन

वह यह कहीं नहीं कहता कि किसी तथ्य को न कहना भी सत्य की श्रेणी में आएगा या असत्य की। एक अन्य संबंधित प्रश्न यह भी है – क्या किसी उच्चतर लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी निम्नतर सत्य को छुपाया नहीं जा सकता? और लेखक के विचार में 'छुपाने' और 'झूठ बोलने' में अंतर होता है। उसने कहीं झूठ नहीं बोला, सत्य को एक उच्चतर लक्ष्य की प्राप्ति के लिए छुपा अवश्य दिया है। इसका अन्य कोई कारण नहीं हो सकता।

तारे का उदय हो चुका था। हृदय देशप्रेम की भावना से ओतप्रोत था लेकिन अपने मूल लक्ष्य को प्राप्त करना भी आवश्यक प्रतीत हो रहा था। अंग्रेजों की दासता से भारत को स्वाधीन कराने का विचार फलीभूत होता प्रतीत नहीं हो रहा था। एक बार फिर उसने ज्ञान की खोज में जाने का निश्चय किया। उसे जरा भी भान न था कि वह ऐसे मार्ग पर चल निकला था जहां दोनों लक्ष्य प्राप्त करने के साधन एक–साथ प्राप्त हो जाएंगे। जो स्वयं की सहायता करता है, ईश्वर भी उसकी सहायता करता है। उसके साथ यही होने जा रहा था। तारा अब सूर्य बनने की राह पकड़ चुका था। कुछ परीक्षा अभी बाकी थी। उसी के लिए उसने मथुरा की ओर रुख किया।

7
गुरु का वरण

साधु ने स्वामी विरजानंद के बारे में अनेक लोगों, विद्वानों और संतों से सुना था। उसने उनके बारे में प्रथम बार शायद उस समय सुना था जब वह लगभग दो वर्ष पहले हरिद्वार गया था। बी. के. सिंह ने राष्ट्रीय पुस्तक *न्यास*, भारत द्वारा प्रकाशित अपनी पुस्तक में लिखा है कि यह वर्ष 1854 की बात है। बाबू देवेंद्रनाथ मुखोपाध्याय ने लिखा है कि उसने स्वामी विरजानंद के बारे में पहली बार तब सुना था जब उसने हरिद्वार में पूर्णानंद स्वामी का शिष्य बनने की इच्छा प्रकट की थी, जिस पर पूर्णानंद स्वामी ने कहा था कि वह अत्यधिक वृद्ध होने के कारण उसे शिष्य के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते थे और उसे मथुरा जाकर स्वामी विरजानंद का शिष्य बनने की सलाह दी थी। छानबीन करने पर उसे स्वामी विरजानंद के बारे में ज्ञात हुआ कि वह बचपन से नेत्रहीन थे, इसलिए उसे संदेह था कि वह शायद अच्छे गुरु न बन पाएं। अन्य किसी गुरु को खोज पाने में असमर्थ होने पर उसने निश्चय किया कि उसे कम से कम एक बार मथुरा जाना चाहिए क्योंकि उसने विरजानंद की प्रशंसा एक से अधिक व्यक्तियों से सुनी थी।

विरजानंद ने अपनी दृष्टि लगभग पांच वर्ष की आयु में चेचक रोग के कारण खो दी थी। साथ ही, वह अत्यंत बूढ़े भी थे; इस समय वह शायद 78–79 वर्ष के थे। बचपन में ही उनके माता–पिता का देहांत हो गया था और लगभग 13–14 वर्ष की आयु में परिजनों की प्रताड़ना के कारण अपना घर छोड़कर हरिद्वार चले गए थे। संन्यास की दीक्षा लेने के बाद उन्होंने व्याकरण पढ़ना आरंभ किया और इस पर अधिकार प्राप्त कर लिया। विभिन्न स्थानों पर प्रवास करते हुए उनकी जान–पहचान अनेक शासकों से हो गई थी जो उनके ज्ञान व बुद्धिमत्ता से बेहद प्रभावित थे।

अंत में, उन्होंने मथुरा में अपना ठिकाना बनाया और व्याकरण व वैदिक ग्रंथों को पढ़ाने के लिए एक पाठशाला खोली जो किराए के भवन में चलती थी, लेकिन उसका खर्च तीन भिन्न राजाओं द्वारा उठाया जाता था, ये थे भरतपुर नरेश महाराजा बलवंतसिंह, जयपुर नरेश महाराजा रामसिंह और अलवर नरेश महाराजा विनयसिंह। इनके अतिरिक्त उनके ज्ञान से प्रभावित होकर अनेक आगंतुक भी आते थे जो उनकी सहायता करते थे। धीरे–धीरे उनकी पाठशाला में छात्रों की संख्या बढ़ने लगी क्योंकि उनकी पढ़ाने की विधि निराली थी। वह छात्रों से कोई शुल्क भी नहीं लेते थे।

दीवान बहादुर हरबिलास शारदा ने साधु के जीवन चरित को लिखते समय उसके बारे में प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान व लेखक रोमां रोलां के शब्द इस प्रकार उद्धृत किए हैं:

> ...को मथुरा में गुरु के रूप में स्वामी विरजानंद सरस्वती नामक एक वृद्ध संन्यासी मिले जो बचपन में ही अंधे हो गए थे। वह ग्यारह वर्ष की अवस्था से ही संसार में सर्वथा अकेले रहते थे और अंधविश्वासों के प्रति घृणा और दुर्बलता की निंदा में...से भी कहीं अधिक कठोर थे।

विरजानंद दृष्टिहीन अवश्य थे, लेकिन समाज और देश में क्या घटित हो रहा था, उसका उन्हें पूरा ज्ञान था। वह देश और हिन्दुओं की दुर्दशा के कारण दुविधा में थे। उन्होंने कई हिन्दू राजाओं से संपर्क कर इस दिशा में कार्य करने का आह्वान भी किया था, लेकिन उन्हें कोई पक्का आश्वासन नहीं मिल पाया था और यही वह समय था जब यह साधु स्वामी विरजानंद का शिष्य बनने मथुरा आ पहुंचा। हरबिलास शारदा ने इस भेंट की तिथि 14 नवंबर 1860 लिखी है, लेकिन यह तिथि अज्ञातवास के बाद की है। हमारे अनुसार, उनकी पहली भेंट चार वर्ष पहले हुई जिसका वर्णन हम अब कर रहे हैं।

*

उन दोनों में कुछ इस प्रकार बातचीत हुई होगी।

साधु ने दरवाजा खटखटाया। भीतर से स्वामी विरजानंद ने पूछा, "कौन है?" साधु ने उत्तर में अपना नाम बताया। फिर पूछा गया, "क्या चाहते हो?"

साधु ने कहा, "स्वामी विरजानंद का शिष्य बनना चाहता हूं।"

बंद दरवाजे के पीछे से अगला प्रश्न किया गया, "अब तक क्या पढ़ा है?"

साधु ने उत्तर दिया कि उसने कुछ व्याकरण और अन्य पुस्तकें पढ़ी हैं। इसके बाद दरवाजा खुल गया। साधु ने कक्ष में प्रवेश किया और प्रणाम करने के बाद नीचे बैठ गया।

स्वामी विरजानंद के पास पढ़ने आने वाले अन्य शिष्य कम आयु के थे जबकि उनके सामने बैठा यह संन्यासी लगभग 32 वर्ष का था। बूढ़े घोड़े को सिखाना आसान नहीं होता। वह थोड़ा असमंजस में थे, बोले अभी तक जो पढ़ा है उसे भूलना होगा। साधु ने कहा कि वह तैयार था। उन्होंने तब कहा कि परीक्षा में खरा उतरना होगा। साधु ने कहा कि वह किसी भी परीक्षा के लिए तैयार था।

विरजानंद ने कहा, "तेरी पहली परीक्षा है कि यदि तेरे पास कोई अनार्ष पुस्तक है तो उसे तुरंत यमुना में तिरोहित कर आ। वह सब अनार्ष ज्ञान जो तूने प्राप्त किया है, उसे भी भूल जा।"

साधु तुरंत ही खड़ा हो गया। अपनी पुस्तकों को उठाया और सीधा यमुना के तट पर गया और सभी पुस्तकों को जल में प्रवाहित कर दिया। उसके बाद वह एक बार फिर आकर अपने नए गुरु के निकट बैठ गया।

इससे संतुष्ट विरजानंद ने कहा कि एक संन्यासी का प्रथम कर्तव्य देश और समाज के प्रति होता है। साधु ने कहा कि वह किसी भी आज्ञा का पालन करने को उद्यत था, वह देश और स्वयं दोनों के कल्याण का इच्छुक था।

गुरु ने कहा कि देश में अंग्रेजों का शोषण बढ़ता जा रहा है और उन्हें मार भगाने के अलावा और कोई रास्ता शेष नहीं बचा है। नगर–नगर भ्रमण के अनुभव के कारण वह साधु जानता था कि यह एक बहुत ही विशाल कार्य था और बिना संसाधन इतने बड़े देश में किसी भी क्रांति को उकसाया नहीं जा सकता था। उसे क्रांति के लिए हो रहे प्रयासों का व उफान मारती भावनाओं का कुछ आभास भी था। स्वामी विरजानंद ने निश्चयात्मक शब्दों में साधु को तैयार होने को कहा, संसाधनों का प्रबंध करने का आश्वासन देते हुए कहा कि उसकी सभी आध्यात्मिक और ज्ञान की आवश्यकताओं की पूर्ति वहां हो जाएगी।

एक साथ दो भिन्न लक्ष्यों को प्राप्त करने का अवसर साधु के चेहरे पर आत्म–संतोष के भाव ले आया। बहुत दिनों बाद उसे अपने मानसिक अवसाद से मुक्ति प्राप्त हुई थी। अब बस योजना बनाने की आवश्यकता थी। इसके बाद इसी संबंध में विस्तृत वार्ता आरंभ हुई। क्रांति की कुछ

योजना पहले से ही हवा में थी, बस अब उसे परवान चढ़ाना था। बैठक समाप्त करने से पहले स्वामी विरजानंद ने साधु से कहा, "देख, मैं देख नहीं सकता, तू न केवल मेरी आंख है, बल्कि मेरे हाथ–पैर भी है। लेकिन हम संन्यासी भी हैं। हमारे लिए आध्यात्म उच्चतर लक्ष्य है, हिन्दू धर्म का उत्थान उच्चतर लक्ष्य है, स्वाधीनता प्राप्ति केवल तात्कालिक लक्ष्य है। इस अभियान में हमारा योगदान केवल इसे भड़काने तक ही सीमित रहना चाहिए। यदि किसी कारण हमारा अभियान विफल भी हो जाए, तो भी हमारे उच्चतर लक्ष्य पर आंच नहीं आनी चाहिए, इसलिए जहां तक हो सके, अपनी पहचान को गुप्त बनाए रखना। यदि आवश्यक लगे तो कुछ समय के लिए अज्ञातवास में भी चले जाना।"

साधु ने थोड़ी देर आंखें बंद कर इन सब पर विचार किया। उसका मन प्रफुल्लित था कि उसे एक योग्य गुरु प्राप्त हो गया था। उसने सोचा कि कितना अच्छा होता यदि वह इस गुरु के पास पहले ही आ गया होता, क्योंकि उसे उनके बारे में पिछले कुछ वर्षों से ही ज्ञात था। दृष्टिहीनता के बाद भी इतना अच्छा शिक्षक होना असाधारण बात थी। वह उसकी प्रत्येक जिज्ञासा शांत करने के साथ–साथ उसे श्रेष्ठतम ज्ञान भी प्राप्त करा सकते थे। हर बात का उचित समय होता है, यह विधाता निश्चित करता है, यही होनी है, यह किसी के वश में नहीं। अगले दिन से ही उसे अपने अभियान में लग जाना था।

साधु पैर छूकर उठता, उससे पहले ही स्वामी विरजानंद ने कहा, "अभी विश्राम करो, सुबह–सवेरे ही जाना है।" साधु को ज्ञात न था कि कहां जाना था या क्यों जाना था, लेकिन उसका पूर्ण विश्वास गुरु में जाग चुका था। जहां गुरु ले जाए, वहीं जाना है। यह सोचकर उसने हाथ जोड़े और नमन कर बाहर आ गया। उसे अपने लिए रात्रि विश्राम की व्यवस्था भी करनी थी।

8
जंगल में बैठक

अगले दिन सुबह–सवेरे सूर्य की लालिमा पूर्व आकाश में फैलनी भी आरंभ नहीं हुई थी जब साधु नित्यकर्मों से निवृत्त होकर यमुना में डुबकी लगा रहा था। नवंबर 1856 का माह था, ठंडक धीरे–धीरे बढ़ रही थी। शीघ्र ही वह साधु बिना ऊनी वस्त्रों के स्वामी विरजानंद के मकान की ओर बढ़ रहा था। गली में मुड़ते ही उसे आश्चर्य हुआ। द्वार पर एक पालकी खड़ी थी व एक ओर चार कहार भी खड़े थे। शायद कोई प्रभावशाली व्यक्ति गुरुजी से मिलने आया होगा, ऐसा उसने सोचा। तब ध्यान आया कि गुरु ने पिछले दिन कहीं जाने के बारे में कहा था। वह आंगन में ही खड़े थे। साधु ने जल्दी से गीली धोती चारदीवारी पर फैला दी और गुरु के सामने झुककर पैर छुए, जो उसका वंदन स्वीकार करते हुए बोले, "चलो, मुझे पालकी तक ले चलो। तुझे मेरे साथ ही चलना है।"

साधु ने उनका हाथ पकड़ा और पालकी में जा बैठाया। उनके पीछे चार और शिष्य भी थे। तुरंत ही कहारों ने पालकी उठाई। अन्य शिष्यों के साथ वह भी पालकी के पीछे–पीछे चल पड़ा। शीघ्र ही पालकी ने पक्के रास्ते को छोड़कर यमुना नदी के निकट से कच्चे रास्ते की ओर रुख किया। रास्ता क्या था, पगडंडी–सी ही थी। जंगल आरंभ हो चुका था। लगभग एक मील चलने के बाद वे एक मैदान में आ पहुंचे थे। वहां एक साधारण तंबू लगा था। पर्याप्त लोग एकत्र थे। साधु को प्रतीत हुआ कि उसके गुरु का बहुत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति की तरह स्वागत हो रहा था।

कहा जाता है कि इस सभा का आयोजन विरजानंद की प्रेरणा से ही हुआ था। जिस प्रकार यह जंगलों में हो रही थी, यह निश्चय ही गुप्त अभियान था। इस घटना का साक्ष्य केवल एक स्थान में मिलता है। इस सभा का विवरण सर्वखाप पंचायत के केंद्रीय कार्यालय (सोरम) के प्रतिनिधि

मीर मुश्ताक मीरसी ने उर्दू में लिपिबद्ध करके दफ्तर दाखिल किया था। इस रिपोर्ट का विवरण पिंडीदास ज्ञानी द्वारा लिखित पुस्तक में है जो आर्य प्रकाशन से प्रकाशित हुई थी।

मीरासी ने इस रिपोर्ट में लिखा है कि 1856 के भाद्रपद माह में मथुरा तीर्थगाह के जंगल में एक पंचायत हुई। इस पंचायत में नाना साहब पेशवा, अजीमुल्ला खां व अन्य के अतिरिक्त सभी पंचायतों के प्रतिनिधि और जागीरदार उपस्थित थे। अन्य नामों में रंगू बाबू और शहंशाह बहादुरशाह जफर के शहजादे का नाम भी सम्मिलित था। सबके आने के बाद एक हिन्दू फकीर को पालकी में बैठाकर लाया गया। सभी मौजूद लोगों ने इस दरवेश की कदमबोसी की। उसने इस बैठक का विवरण लिखते समय कहा है कि यह बैठक चार दिन चली। पहले दिन सब मेहमानों का आपस में परिचय कराया गया। दूसरे दिन मुस्लिम विद्वानों ने धर्म के बारे में चर्चा की। तीसरे दिन हिन्दू विद्वानों ने राम, कृष्ण, बुद्ध और शंकराचार्य के अतिरिक्त अन्य ऋषियों और राजाओं–महाराजाओं के बारे में चर्चा की गई। स्वामी विरजानंद का स्वागत चौथे दिन किया गया, जिसमें उन्होंने अनेक विषयों पर बात की, जिसमें क्रांति–संबंधित विषय अधिक महत्त्वपूर्ण थे। अपनी रिपोर्ट में मीरासी कहता है कि चौथे दिन केवल महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को ही उपस्थित रहने की अनुमति दी गई थी, और सरकार से संबंधित किसी भी व्यक्ति को उसमें नहीं आने दिया गया था। उसके विवरण से स्वामी विरजानंद के महत्त्व के बारे में और भी स्पष्ट होता है जब वह लिखता है–

> जब महात्मा विरजानंद को पालकी में बिठाकर लाया गया, उस वक्त हिन्दू–मुसलमान फकीरों ने उनकी खुशी में शंख, खड़ताल, नागफनी, नक्कारा, तुरही और नरसिंहे बजाए थे और खुदा–परस्ती और वतन–परस्ती के गीत गाए थे। यह नाबीना साधु हर जल्म को समझने की ताकत रखता था और खुदा के जलवे–जलाल उसकी जबान से जाहिर होता था। मैंने भी अपनी कहके तकाजे के मुताबिक पांच फूल उनके सामने पेश किए और उनकी कदमबोसी की और खुदा से दुआ मांगी कि खुदा ऐसी नेक रूहों को खल्कत की भलाई के लिए हमेशा पैदा कीजिए।

कल्पना का सहारा लेकर हम इस सभा के बारे में कुछ और बताते हैं। इस बैठक में निश्चित हुआ था कि कमल अभियान और चपाती अभियान को पूर्ववत् जारी रखा जाए और क्रांति की तारीख 31 मई 1857 निश्चित की जाए। यह योजना बनाई गई कि सभी प्रमुख छावनियों में गुप्तचर कार्य कर सिपाहियों की भावनाओं को भड़काएं। जिन बिंदुओं पर उन्हें भड़काया जा सकता था, उन पर भी चर्चा हुई। इस सभा में मुख्य वक्ता स्वामी विरजानंद ही थे। साधु उनके निकट बैठकर ही उन्हें सुन रहा था, उसके मन में अपने नए गुरु के लिए आदर बढ़ता जा रहा था। दृष्टिहीनता के बावजूद भी उनका बहुत विस्तृत दृष्टिकोण था और वह इस प्रकार सारी योजना को प्रस्तुत कर रहे थे मानो उन्होंने उन सारे स्थानों को स्वयं देखा हो।

सभी छावनियों और महत्त्वपूर्ण नगरों में अपने प्रतिनिधि नियुक्त करने के बाद केवल एक ही स्थान शेष था, वह था मेरठ। अजीमुल्ला खां ने बताया कि वहां अभी तक कोई गुप्तचर नियुक्त नहीं किया जा सका था, उसका कारण था कि वहां देशी सिपाहियों और यूरोपियन सैनिकों की संख्या लगभग बराबर थी और तोपखाना अंग्रेजों के अधिकार में होने के कारण वे बहुत ताकतवर थे, इसलिए वहां क्रांति करना भी असंभव था।

"हम यहां असंभव को संभव बनाने की योजना बनाने आए हैं," स्वामी विरजानंद ने विश्वास–भरे शब्दों में कहा। "आप देखोगे कि मेरठ से ही क्रांति आरंभ होगी।"

"ऐसा कैसे कह सकते हैं आप?"

"यह काम मेरा नया शिष्य करेगा," स्वामी विरजानंद ने साधु की ओर संकेत करते हुए कहा। सभी नजरें उसकी ओर उठ गई थी, लेकिन वह अपने मन में सोच रहा था कि गुरुजी को किस प्रकार ज्ञात था कि वह कहां बैठा था। उनके पास अवश्य ही दिव्य दृष्टि है। उसका मन अपने गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा से परिपूर्ण हो गया था।

साधु शायद अपने भविष्य की योजना में डूबना ही चाहता था कि उसने देखा कि निकट बैठे लंबे–चौड़े व्यक्ति ने उसका हाथ दबाया। साधु ने उसकी ओर प्रश्नवाचक निगाहों से देखा।

सफेद कुर्ता–धोती में गौरवर्ण व्यक्ति अत्यंत रोबीला प्रतीत हो रहा था। उसके चेहरे पर हलकी मुस्कान थी। धीरे से बोला, "मेरठ में थारा स्वागत है।"

"आपका परिचय?" साधु हिन्दी में इतना प्रवीण नहीं था, वह गुजरात में जन्मा था। किसी अनजान व्यक्ति से 'थारा' शब्द सुनकर उसे एक बार अच्छा नहीं लगा था।

"मैं शाहमल हूं मेरठ के बड़ौत का। लागै है हम एक साथ ही काम करैंगे।" ठेठ हिन्दी सुनकर साधु समझ गया कि वह काम का आदमी था। वह आगे बोला, "कोई परेशानी न जाणियो, कोई भी जरूरत होवे तो बस पुकार लीजौ।"

उस बैठक में मेरठ क्षेत्र के और लोग भी शामिल थे। इतनी संख्या में लोगों को देखकर साधु को विश्वास होता जा रहा था कि क्रांति का सपना पूरा हो ही जाएगा। बैठक में स्वामी पूर्णानंद के प्रतिनिधि भी थे। साधु ने उनके पास जाकर स्वामी जी के लिए संदेश भेजा कि अंततः वह उनके अभियान में सम्मिलित हो चुका था।

*

शाम को पाठशाला में वापस आने के बाद स्वामी विरजानंद ने साधु को अपने पास बैठने को बुलाया। साधु के मन में अनेक प्रश्न उठ रहे थे। वह पूछ ही बैठा, "मुझे मेरठ में क्या करना है?"

"अभी बैठक में क्या सुना है?" स्वामी विरजानंद कुछ सख्त स्वभाव के व्यक्ति थे। "तुझे सिपाहियों को भड़काना है।"

"आरंभ कहां से करना है?"

"तुझे अपना मार्ग स्वयं चुनना है।"

"क्या सिपाहियों से भेंट करना इतना आसान काम है?"

"बिल्कुल नहीं। वहां तुझे कोई ऐसा ठिकाना चुनना है जो छावनी के नजदीक हो और जहां देशी सिपाही आते हों। इस प्रयोजन से कोई धार्मिक स्थान उचित रहना चाहिए। बस, और कोई प्रश्न नहीं। वीर अपना मार्ग स्वयं बनाते हैं। तुम वीर हो, ऐसा मेरा विश्वास है। जैसी स्थिति हो, उसी अनुसार कार्य करना।"

साधु की आंखों में निश्चय के भाव आ गए थे। वह बोला, "आपके आदेश के पालन के लिए मैं अपने जीवन का भी बलिदान कर दूंगा।"

"नहीं, मुझे तेरी आवश्यकता है। तुझे जानना चाहिए जब छत्रसाल ने तेरे जैसे शब्दों का प्रयोग किया तो छत्रपति शिवाजी ने क्या कहा। उन्होंने कहा कि अपना बलिदान कर तू बस अपने लिए गौरव प्राप्त कर लेगा,

लेकिन राष्ट्र का कार्य अधूरा रह जाएगा। यही बात तेरे पर लागू होती है। तुझे बस अपना काम करना है और निकल जाना है। हमारे सामने उच्चतर लक्ष्य है, उसे प्राप्त करना है। कल बताया तो था, मुझे कोई बात दोबारा बताने की आदत नहीं। समझा?"

"बस एक–दो बातें और पूछनी हैं। आज्ञा हो तो कहूं।"

"हम्म!"

"ये कमल अभियान और चपाती अभियान क्या हैं?"

विरजानंद उसे विस्तार से बताने लगे। उसके बाद बैठक समाप्त हो गई। अगले दिन प्रातः ही साधु को वहां से कूच करना था। इस बार वह पैदल नहीं होगा, अकेला नहीं होगा, उसके साथ अन्य लोग भी होंगे। वह ऐतिहासिक कार्य करने निकलने वाला था, लेकिन इतिहास में गुमनाम रहने का भी आदेश था, यह गुरु का आदेश था। उच्चतर लक्ष्य के लिए निम्नतर गौरव की आहुति भी दी जा सकती है।

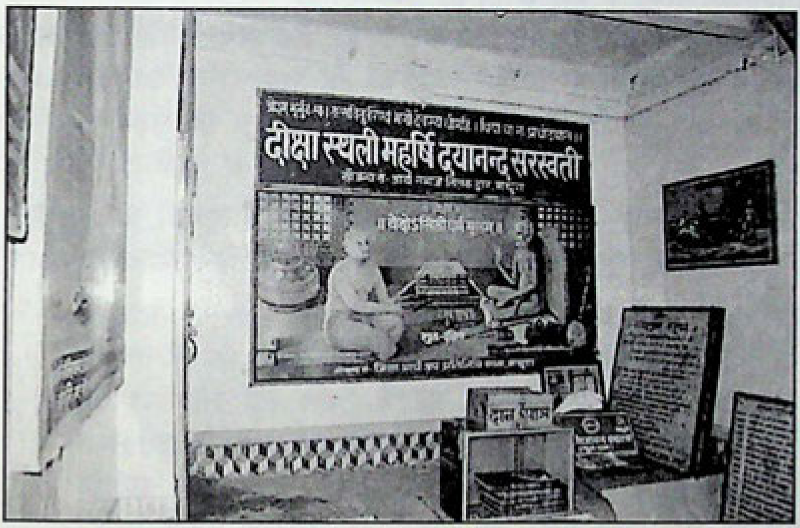

चित्रः मथुरा स्थित स्वामी विरजानंद की पाठशाला का भीतरी दृश्य।

9

पूर्व तैयारी और अभियान

अनेक इतिहासकार 1857 की क्रांति को स्वतःस्फुटित घटना बताते हैं, लेकिन ऐसे अनेक प्रमाण हैं जो इसकी पूर्व योजना के बारे में संभावनाओं को पुष्ट करते हैं। इस पुस्तक में विभिन्न स्थानों व स्तरों पर पूर्व तैयारी व योजना के तथ्य आपके सामने आते रहेंगे। चपाती व कमल अभियान दो गुप्त लेकिन चर्चित अभियान रहे हैं जिनके बारे में पर्याप्त तथ्य उपस्थित हैं। ये दोनों अभियान 1857 के आरंभिक महीनों में आरंभ हुए थे, लेकिन इनसे बहुत पहले भी इस प्रकार की क्रांति की तैयारी थी, और हम सबसे पहले इसी की चर्चा करेंगे।

अंग्रेजों के विचार में यह विप्लव पूर्व–योजित था या नहीं, इस बारे में इतिहासकार आर्थर डी. एनीस के विचार पर्याप्त तर्कपूर्ण प्रतीत होते हैं–

> सत्यता को उन दो वर्ग के लोगों के कहीं मध्य देखा जा सकता है जो कहते हैं कि विद्रोह बस घबराए हुए सिपाहियों का था और जो कहते हैं कि यह विद्रोह योजित था। इस घबराहट को राजनैतिक षड्यंत्रकारियों ने रचा था, लेकिन विद्रोह योजित नहीं था. . . इसके अनेक संकेत हैं कि सिपाहियों ने पहला कदम अंधकार में उठाया था, उन्हें ज्ञात नहीं था कि वे कहां जा रहे थे। लेकिन साथ ही अनेक संकेत हैं कि एक ओर नाना साहब और दूसरी ओर मुगल पक्ष ने उन्हें इस कदम को उठाने में सहायता दी थी।

1857 क्रांति के महान सेनानियों में बिहार में स्थित जगदीशपुर के जमींदार कुंवर सिंह का नाम सम्मिलित है। उन्होंने कंपनी राज की सरकार के विरुद्ध इस क्रांति से लगभग 11–12 वर्ष पहले ही प्रयास करने आरंभ

कर दिए थे। पंजाब में 1839 में महाराजा रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद अव्यवस्था फैल गई थी। अंग्रेजों ने इस स्थिति का लाभ उठाने का निर्णय किया, जिसके परिणामस्वरूप दो युद्ध हुए। पहला युद्ध वर्ष 1845–46 में हुआ। अंग्रेजों से पाठ सीखते हुए कुंवर सिंह ने भी अंग्रेजों की सेना और संसाधनों का पंजाब में लगे होने का लाभ उठाने का निश्चय किया। उनका विचार था कि पंजाब में सिखों को मदद पहुंचाई जाए, साथ ही बिहार में क्रांति की नींव डाली जाए। इस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए उन्होंने अन्य जमींदारों और ताल्लुकदारों को साथ लिया और पटना के निकट दानापुर छावनी में सिपाहियों को विद्रोह के लिए उकसाने के लिए धनराशि का प्रबंध भी किया। वह इस अभियान में नेपाल की मदद लेने के भी इच्छुक थे जिसका राजा इस समय राजनैतिक उथल–पुथल का सामना कर रहा था।

दुर्भाग्य से इस योजना का पटना स्थित अंग्रेज अधिकारियों को पता चल गया कि दानापुर के सैनिक अधिकारियों और सिपाहियों में धन बांटा जा रहा था। इस संबंध में राहत अली को गिरफ्तार भी किया गया था। जांच में सामने आया कि अनेक प्रभावशाली व्यक्तियों, जमींदारों और राजाओं ने सोनपुर मेले के अवसर पर हरिबर छत्तर में एक बैठक बुलाई थी जिसमें जगदीशपुर सहित अनेक स्थानों पर सेना गठित करने की योजना बनाई गई थी, और इसमें नेपाल और दिल्ली के मुगल शासक से मदद लेने का भी निश्चय किया गया था। इन व्यक्तियों को बिहार के विभिन्न स्थानों पर देशी सिपाहियों में असंतोष फैलाने का कार्य दिया गया था जिनमें अन्य स्थानों के अतिरिक्त दानापुर, सिगौली (सुगौली), हजारीबाग (अब झारखंड) और दरोंडा (अब झारखंड) शामिल थे। पटना के कमीश्नर विलियम टेलर ने इस योजना को अपनी पुस्तक *Our Crisis* (हमारा संकट) में वर्णित किया है–

> पिछले कुछ वर्षों से इस नगर [पटना] को असंतोष और षड्यंत्र का केंद्र माना जाता है। 1846 ई. में एक खतरनाक योजना के बारे में ज्ञात हुआ था, जिसमें पटना और आसपास के जिलों के मुसलमान जुड़े हुए थे और जिसमें सिपाहियों को खराब करने की कोशिशें की गई थीं।

शाहाबाद का मजिस्ट्रेट एल्फींस्टन जैकसन, जिसके अधीन जगदीशपुर आता था, ने बंगाल की (कंपनी) सरकार के सचिव को 3 जनवरी 1846 को भेजे गए पत्र में लिखा था–

> मुझे ऐसे पत्र प्राप्त हुए हैं जिनमें सूचना है कि बाबू कुंवर सिंह, जो जिले का बहुत प्रभावशाली जमींदार व आरा और शाहाबाद के अन्य नगरों के निवासियों में अत्यंत लोकप्रिय है, उस पर संदेह है कि वह षड्यंत्रकारियों से संबद्ध है और उसकी मुहर लगे पत्र बरामद किए गए हैं जो उसके अपराध को सिद्ध करते हैं।

इतिहासकार के.के. दत्ता ने 1917 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *Unrest Against the British Rule in Bihar 1831–1859* (बिहार में ब्रिटिश राज के विरुद्ध व्याकुलता 1831–1859) में लिखते हैं कि "कुंवर सिंह के नेतृत्व में जगदीशपुर में एक बल को बनाने का कार्य आरंभ हो चुका था।"

इस संबंध में पटना के तत्कालीन कमीश्नर ई.सी. रेवनशॉ ने गवर्नर जनरल को चेतावनी भेजते हुए अनेक स्थानों पर छापे डलवाए। पटना में ही मलिक कदम अली के घर में स्थित एक कुएं से एक पार्सल बरामद किया गया था जिसे ईंटों और कालीन में सुरक्षित किया गया था और इसके भीतर बांस के टुकड़े में कागज पाए गए थे जो गीले हो गए थे। इन कागजों को सुखाकर सूक्ष्मदर्शी शीशे की मदद से पढ़ने का प्रयत्न किया गया था।

इनमें अधिकांश पत्रों को कुंवर सिंह ने ख्वाजा हुसैन अली, कदम अली, बरकतुल्ला आदि को लिखा था और उन पर उनकी मुहर भी लगी थी। पटना के मजिस्ट्रेट के पास पहले से ही उनके विरुद्ध प्रमाण थे कि वह नेपाल को भेजे गए संदेशवाहक राहत अली से संपर्क में थे और वह अंग्रेजी राज के विरुद्ध अनेक प्रकार की गतिविधियों का संचालन कर रहे थे। यह भी पाया गया था कि कुंवर सिंह एक सेना के साथ आंग्ल–सिख युद्ध में भाग लेने लाहौर जाएंगे। एक अन्य पत्र में सूचना थी कि उनके लिए धन का प्रबंध हो गया था, लेकिन यह निश्चित नहीं था कि वह उन्हें मिला था या नहीं। सभी प्रमाणों को देखते हुए पटना के मजिस्ट्रेट ने शाहाबाद के मजिस्ट्रेट को कुंवर सिंह के विरुद्ध जांच बैठाकर उन्हें बंदी बनाने के लिए लिखा था।

आश्चर्य की बात यह है कि अंग्रेज लेशमात्र संदेह होने पर भी विनाशकारी प्रतिशोधात्मक कार्यवाही करते थे, लेकिन इस मामले में उन्होंने कुंवर सिंह से पूछताछ तक नहीं की थी, उन्हें बंदी बनाने की बात तो दूर है। इससे इस वयोवृद्ध वीर की शक्ति व प्रभाव का अनुमान सहज लगाया जा सकता

है। इसका कारण भी अंग्रेजों ने स्वयं बताया है। शाहाबाद के मजिस्ट्रेट एल्फिंस्टन जैकसन ने बंगाल सरकार के सचिव को 22 जनवरी को लिखे पत्र में कहा कि "बाबू कुंवर सिंह की गिरफ्तारी से लोग विद्रोह कर देंगे जो उसके आदेश का पालन करते हैं और इसका परिणाम बहुत गंभीर होगा।" अंग्रेजों को समझ आ गया था कि कुंवर सिंह से इस प्रकार किए गए किसी भी व्यवहार का अर्थ था कि समूचा प्रांत ही अशांत हो उठेगा क्योंकि उन्हें नेपाल और शाहाबाद के लोगों के अतिरिक्त टीकरी, गया, सासाराम, दरभंगा, बेतिया, हुतवा आदि स्थानों के जमींदारों और राजाओं से भी दो–चार होना होगा जिन सभी को सरकारी अधिकारियों, महाजनों और व्यापारियों से सहायता प्राप्त हो रही थी।

यह भी जानना रोचक होगा कि अंग्रेज अधिकारियों को ज्ञात हो गया था कि इस सारे प्रकरण के नेता ख्वाजा हुसैन (हसन) अली थे जिन्हें बंदी बनाने के प्रयत्न किए गए, लेकिन विफलता हाथ लगी। और भी रोचक बात यह है कि ख्वाजा ने स्वयं ही पटना मजिस्ट्रेट के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया लेकिन उन्हें भी 27 अक्टूबर 1846 को छोड़ना पड़ा। इस तरह इस पूरे कांड में न किसी की गिरफ्तारी हुई, न सजा। हां, दो देशी सिपाहियों को मामूली सजा अवश्य हुई – दुर्गा प्रसाद पंडित को तीन वर्ष का कारावास और जमादार बीखन खान को सेवा–समाप्ति। काय ने अपनी पुस्तक में इस घटना को 'आने वाले तूफान की भविष्यवाणी' कहा था।

इस 'तूफान' को यथार्थ में बदलने के लिए 1856 के आरंभ में एक बार फिर कुंवर सिंह योजना बना रहे थे और उनकी मंशा थी कि योजित क्रांति पूरे देश में एक साथ फैले। इस योजना के संबंध में उन्होंने एक बार फिर बिहार और अवध के ताल्लुकदारों, जमींदारों और राजाओं से संपर्क किया था। आरा के मजिस्ट्रेट वेक ने 29 जनवरी 1858 को पटना के कमीश्नर को लिखा–

> मेरे पास जो सूचना आई है, उससे कोई संदेह नहीं रह जाता कि कुंवर सिंह कुछ समय से विद्रोह की योजना बना रहा था व दानापुर रेजिमेंटों की प्रतीक्षा कर रहा था।

अपने पत्र में वह एक पेटिशन (प्रार्थना–पत्र) का भी वर्णन करता है जो उसे किसी अज्ञात व्यक्ति से प्राप्त हुआ था और जिसे वेक ने कमीश्नर को भेजा था जिसमें ". . .[बाबू कुंवर सिंह] की पूरी योजना और तैयारी ही नहीं, बल्कि सही तारीख [25 जुलाई] भी लिखी है जिस दिन दानापुर

रेजिमेंट विद्रोह करेगी। मेरा विचार है कि मैंने इसे विद्रोह से एक सप्ताह पहले भेजा था और इसका प्रत्येक शब्द सच सिद्ध हुआ।"

चित्रः जगदीशपुर स्थित संग्रहालय में लगा वीर कुंअर सिंह का चित्र।

1855 ई. में बंगाल की अंग्रेजी सरकार को एक अज्ञात स्रोत से पत्र आया था जिसमें अंग्रेजों को उनके अत्याचारों के दुष्परिणाम की चेतावनी दी गई थी। इस पत्र को पटना व भागलपुर डिवीजनों के कमीश्नरों को 8 अक्टूबर 1855 को प्रेषित किया गया था। अन्य अनेक बिंदुओं के अतिरिक्त पत्र में यह भी लिखा था–

> हिन्दुस्तान के लोग स्कूलों की स्थापना होने और मुसलमानों की मस्जिदों व हिन्दुओं के मंदिरों के नष्ट होने से पहले लड़ना चाहेंगे। . . .मुजफ्फरपुर, आरा, छपरा, अजीमाबाद, साहबगंज और भागलपुर के जमींदार और राजा व बंदीग्रहों व इन जिलों की कलेक्ट्रेटों में तैनात सिपाही संगठित हो गए हैं, जिनमें से एक को पटियाला के राजा को, एक को सांथाल [जहां उस समय विद्रोह चल रहा था], और एक अन्य को नेपाल के राजा व दिल्ली के बादशाह को भेजा गया है।

1856 में जब अंग्रेजों ने अवध को हड़प लिया और नवाब वाजिद अली शाह को कलकत्ता भेजा गया तो मार्ग में उसने कानपुर और पटना में क्रांतिकारियों से भेंट की थी। डा. के.के. दत्ता ने अपनी पुस्तक में देशी सिख पैदल सेना के सूबेदार हिदायत अली के संदर्भ से लिखा है–

> जब लखनऊ का नवाब 24 मार्च 1856 को कलकत्ता जाते हुए यहां [कानपुर] रुका तो बिठूर के राजा के वकील और वहां तैनात देशी रेजिमेंटों के अधिकारी व सिपाही नवाब के वकीलों और नौकरों के पास आया करते थे।

इसी प्रकार नवाब ने पटना में भी मुस्लिम नेताओं से भेंट की थी जब वह यहां एक रात के लिए रुका था। पटना के कमीश्नर डब्ल्यू. टेलर ने लिखा है–

> यह पहले से मेरे संज्ञान में था कि जब अवध का राजा पटना से होकर गया, इस शहर के कोटगश्त (दरोगा गश्त) मेहदी अली को सत्कार सहित राजसी [नवाब वाजिद अली की] उपस्थिति में लाया गया।

कलकत्ता में भी निवास के दौरान नवाब क्रांतिकारियों के संपर्क में था, यही कारण था कि क्रांति विस्फोट के तुरंत बाद उसे बंदी बना लिया गया था।

मार्च 1857 के महीने में दिल्ली में जामा मस्जिद व आसपास के क्षेत्र में दीवारों पर एक घोषणा चिपकाई गई थी कि अंग्रेजों के चंगुल से भारत को मुक्त करवाने के लिए एक पर्शियन सेना जल्दी ही आएगी। इस पर किसी मुहम्मद सादिक का नाम लिखा था, लेकिन कोई नहीं जानता था कि वह कौन था। अपनी पुस्तक के द्वितीय अंक में काय ने मुगल बादशाह के मुकंद लाल नामक सचिव के हवाले से कहा है कि मुगल शासक के निजी सहायक आपस में बात किया करते थे कि सेना जल्दी ही विद्रोह कर देगी और महल में प्रवेश कर मुगल बादशाह को गद्दी पर बैठा देगी।

क्रांति से कुछ माह पहले नाना साहब ने उत्तर भारत में अनेक यात्राएं की थीं। काय अपनी पुस्तक में लिखता है कि उन्हें "लंबी यात्राओं की आदत नहीं थी, वास्तव में उन्हें अपनी जमींदारी से बाहर बहुत कम ही देखा गया था। लेकिन 1857 के आरंभिक महीनों में काल्पी जाने के बाद उन्होंने दिल्ली और बाद में लखनऊ की यात्रा की"। काय ने यह भी लिखा है–

> नाना धोंधु पंत (नाना साहब पेशवा) और उनके सलाहकार अजीमुल्ला खां ने मार्च या अप्रैल में परिस्थिति का आकलन करने के लिए मेरठ का दौरा किया था।

इसी प्रकार, क्रांति के दौरान कर्नल कीथ यंग ने अपनी पत्नी को पत्र लिखे जो *1857–Delhi* के शीर्षक से पुस्तक के रूप में छपे। उसने

नाना साहब के बारे में निम्न प्रकार लिखा है जो मेरठ में उनकी उपस्थिति दर्शाता है, हालांकि बाद में लिखे एक पत्र में उसने इसे नकार दिया–

> नाना ही वह व्यक्ति था जो मेरठ में दें मॉल पर एक यूरोपियन तांगेवाले के साथ आया–जाया करता था।

उपरोक्त घटनाओं के अतिरिक्त इस पुस्तक में क्रांति की पूर्व योजना के बारे में संदर्भ सहित अनेक स्थानों पर बताया गया है। कमल अभियान और चपाती अभियान भी इसका महत्त्वपूर्ण भाग थे। इन दोनों अभियानों के बारे में जानना रोचक होगा।

1857 में कंपनी राज के सौ साल पूरे हो रहे थे। अंग्रेजों की योजना थी कि इस अवसर पर विजय का विशाल समारोह आयोजित किया जाए। अभी यह योजना बन ही रही थी कि आगरा और अवध क्षेत्र में चपाती अभियान आरंभ हो गया। यह दो रूपों में था। पहला, कोई साधु या फकीर एक रोटी के टुकड़े कर बांटता था। जिन–जिन लोगों को यह प्रसाद के रूप में प्राप्त होती थी, वे अपने घर पर और रोटी बनाकर अन्य लोगों में बांटते थे। इस प्रसाद के साथ संदेश भी दिया जाता था, जो अंग्रेजों के विरुद्ध होता था। गांवों में प्रधान को भी रोटी दी जाती थी, जो अपने गांववासियों में बांटता ही था, वह पांच रोटी और बनाकर आसपास के गांवों में भी एक–एक रोटी भेजता था। इसका विस्तार कितने विशाल क्षेत्र में था, इसका पता हमें सागर और नर्मदा क्षेत्र के कमीश्नर मेजर एर्सकीन की रिपोर्ट से लगता है–

> जनवरी 1857 में गेहूं के छोटे केकों [चपातियों] को अत्यंत रहस्यमय तरीके से अधिकांश जिलों में एक गांव से दूसरे गांव में बांटा गया था. . .

कैप्टेन कीटिंग ने भी अपनी रिपोर्ट में लिखा है–

> निमाड़ में 1857 का आरंभ चपातियों के वितरण से हुआ, जिन्हें एक गांव से दूसरे को भेजा गया। मुझे ज्ञात है कि यह पूरे उत्तरी भारत में हुआ, और इसे उस उपद्रव का संकेत कहा जाता है जो इस वर्ष हुआ।

अफवाह यह भी है कि इन रोटियों पर संदेश लिखा होता था। इसकी एक संभावना काय ने अपनी पुस्तक में निम्न प्रकार वर्णित की है–

> कुछ लोगों की यह कल्पना भी है कि इन चपातियों का प्रयोग गांव–गांव राजद्रोही संदेश भेजने के औजार के रूप में होता

> था जिसे पढ़ने के बाद ग्राम प्रधान आटे की दूसरी परत चढ़ाकर आगे भेज देता था जहां दूसरा व्यक्ति इसे तोड़कर संदेश पढ़ता था। इस सारे अभियान की जो भी सत्यता रही हो, जिन जिलों में ये चपातियां वितरित की गई थीं, वहां उन्होंने निःसंदेह लोक उत्तेजना को निर्मित कर उस भावना को बनाए रखा था, इसका क्षेत्र विशाल था और यह लंबे समय तक बना रहा. . .

The Revelation of an Orderly (एक अर्दली का रहस्योद्घाटन) (1866 में प्रकाशित) नामक एक पुस्तक में पंचकौड़ी खान नामक अर्दली के उद्गार हैं जो उसने अंग्रेजी प्रशासन के बारे में व्यक्त किए हैं जिनमें बंदियों तक को भोजन के माध्यम से सूचना देने का वर्णन है। यह कहती है–

> यदि कोई बंदी सिपाहियों की संगीन के नीचे बंदी है तो भी उसे रोटी खाने की अनुमति देनी होगी। भोजन पकाने वाले को रिश्वत दी जाती है और चपाती में एक छोटा संदेश डाल दिया जाता है या तश्तरी पर एक वाक्य लिख दिया जाता है, और जब बंदी रोटी को उठाता है, उस लिखाई को पढ़ लेता है।

इस चपाती अभियान का दूसरा रूप और अधिक खतरनाक था। इसमें अंग्रेज अधिकारियों के कार्यालय में रात को उनकी मेज पर चार या पांच चपाती रख दी जाती थीं। अंग्रेजों ने लाख पता करने की कोशिश की कि यह कौन रखता था, लेकिन कुछ पता नहीं चल पा रहा था। कंपनी कर्मचारियों में खौफ का माहौल पैदा हो गया था क्योंकि इससे भारतीयों में भीतर–ही–भीतर उठने वाला असंतोष व्यक्त हो रहा था, लेकिन अभियान के सिर–पैर का पता नहीं चल पा रहा था। इसकी खोज में गुप्तचर विभाग को भी लगाया गया लेकिन विफलता ही उसके हाथ लगी। अफवाहों का बाजार गर्म था। यहां तक कहा जाता था कि ये चपातियां एक रात में डेढ़–दो सौ मील की यात्रा करती थीं।

चपाती अभियान के साथ–साथ कमल अभियान भी चल रहा था। इतना अंतर अवश्य था कि चपाती अभियान आमलोगों के बीच था, तो कमल अभियान महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों जैसे शासकों, राजाओं, जमींदारों और ग्राम प्रधानों के मध्य था। जिस किसी को भी कमल प्राप्त होता, उससे आशा होती थी कि वह कम से कम पांच और लोगों को ताजे कमल भेजे।

ये दोनों अभियान शायद जनवरी 1857 में आरंभ हुए। ये किस प्रकार आरंभ हुए, इस बारे में भी अनेक किंवदंतियां हैं। ऐसा माना जाता है कि नाना साहब पेशवा बिठूर में दासबुवा के मठ जाते थे। जब अंग्रेजों ने राज्यों को हड़पने की अपनी नीति के अंतर्गत दत्तक पुत्र को राजा का उत्तराधिकारी नहीं मानने का निश्चय किया, जिससे नाना साहब भी प्रभावित हुए क्योंकि वह अंतिम पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र थे। कोई सकारात्मक परिणाम न आने के कारण वह सशस्त्र क्रांति करने की योजना बना रहे थे। एक बार जब दासबुवा के मठ जाकर उन्होंने अपनी व्यथा कह सुनाई तो बैरागी ने धूनी से कुछ सेंकी हुई चपातियां निकाली और मूर्ति पर चढ़ाए गए कुछ कमल के फूल बंटोरे और उन्हें देकर कहा कि इन्हें फैलाओ और जहां तक ये फैलेंगे, आपका राज हो जाएगा।

एक अन्य अनुमान के अनुसार, कमल अभियान का सूत्रपात फैजाबाद (अयोध्या) के मौलवी अहमदुल्ला शाह ने आरंभ किया था।

नोट – यह एक संयोग मात्र है कि 1857 क्रांति के तीन महानतम् वीरों में से दो का वर्णन इस अध्याय में आ गया है – वीर कुंवर सिंह (जगदीशपुर) व मौलवी अहमदुल्ला शाह (फैजाबाद)। तीसरे वीर का नाम था तात्या टोपे जिन्होंने नाना साहब व रानी लक्ष्मीबाई के साथ मिलकर युद्ध किया। इन तीनों वीरों की मालेसन सहित अनेक अंग्रेजी लेखकों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

10
क्रांतिधरा मेरठ

1857 की विशाल क्रांति अचानक ही घटित नहीं हो गई। इसके मूल में अनेक प्रकार के प्रयास थे। भारतीय इतिहास पर लिखते समय सबसे बड़ी सीमा साक्ष्यों की होती है। उस काल में भारतीयों ने लेखन कार्य न के बराबर किया है जिसके कारण पारिस्थितिक तथ्यों और साक्ष्यों का अभाव खलता है। चपाती और कमल अभियान या मथुरा के जंगलों में हुई सभा आदि का कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता। जो एक प्रमाण हमने आपको बताया भी है, उस पर भी संदेह किया जा सकता है। लेकिन अप्रत्यक्ष प्रमाण अनेक मिलते हैं। क्या हम परंपरा–संस्कृति के अतिरिक्त लोककथाओं और लोकगीतों को साक्ष्य के रूप में नहीं ले सकते? मेरे विचार में हम उन्हें साक्ष्य के रूप में स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि उनका कुछ तो आधार होता है, उनमें अतिश्योक्ति का पुट अवश्य हो सकता है। इस क्रांति पर लिखते समय इन सीमाओं का ध्यान रखना ही पड़ता है, रखना भी चाहिए, विशेषकर उस अवस्था में जब प्राप्त होने वाले अभिलेख उन लोगों या संगठनों द्वारा रचित हुए हों जो इसके विरोधी पक्ष में थे। जब हम जनश्रुति और अप्रत्यक्ष प्रमाणों को एक साथ मिलाकर विवेचना करते हैं तो सारी बात स्पष्ट होने लगती है, अंधेरा छंटने लगता है और उसमें से निकलती है सूर्य की चमकदार किरण जो लोगों के शिथिल शरीरों में तीव्र रक्त प्रवाह का स्रोत बनती है, देशप्रेम की उस उदात्त भावना को जगाती है जिसमें हजारों लोगों ने हंसते–हंसते अपने प्राणों का बलिदान कर दिया।

मेरठ अभियान के बारे में बात करने से पहले बेहतर होगा कि हम इस ऐतिहासिक नगर में स्थित छावनी को समझने का प्रयत्न करें। इससे यहां हुई क्रांति के घटनाक्रम को भली–भांति समझने में मदद मिलेगी।

क्रांतिधरा के नाम से विख्यात मेरठ पश्चिमी उत्तर प्रदेश का प्रसिद्ध जिला है और अनेक क्षेत्रों में यह देश की अर्थव्यवस्था में योगदान दे रहा है। मैदानों में स्थित यह जिला गंगा–यमुना दोआब क्षेत्र में स्थित है और यहां की भूमि इन दोनों नदियों व उनकी सहायक नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी से बनी है। पानी की पर्याप्त उपलब्धता होने के कारण यहां हरियाली ने अपना विस्तृत साम्राज्य स्थापित कर रखा है, और मौसम भी वर्ष में दो–तीन फसलें उगाने की अनुमति देता है।

1857 में इस जिले में वर्तमान बागपत, गाजियाबाद व हापुड जिलों के अतिरिक्त गौतम बुद्ध नगर जिले की दो तहसीलें भी शामिल थी। *मेरठ गेजेटियर* के अनुसार, 1853 में इस जिले का क्षेत्रफल 2362 वर्ग मील था और यहां की जनसंख्या 11,35,072 थी। इसमें गांवों की कुल संख्या 1,373 थी जिनमें 1,077 गांवों में जनसंख्या 1,000 से कम और 288 गांवों में 1,000–5,000 के बीच और 8 गांवों में जनसंख्या 5,000 से अधिक थी। इतने विशाल क्षेत्र और संसाधनयुक्त जिले के अतिरिक्त दिल्ली के निकट होने के कारण इसके सामरिक महत्त्व को देखते हुए अंग्रेजों ने इस क्षेत्र को 1803 में अपने अधिकार में ले लिया और मेरठ छावनी की स्थापना 1806 में की।

मेरठ में रामायणकालीन व महाभारतकालीन विरासत भी देखने को मिलती है। रामायणकाल के स्थानों में से कुछ हैं बिल्वेश्वरनाथ मंदिर, पुरा महादेव, वाल्मीकी मंदिर व गगोल। हस्तिनापुर महाभारतकालीन विरासत के लिए प्रसिद्ध है।

इस समय मुगल साम्राज्य का पतन बहुत तेजी से हो रहा था। बहादुरशाह जफर नाममात्र का शासक था। पिछले कई दशकों से मुगलों पर मराठा या अन्य किसी आक्रमणकारी का आधिपत्य था। इस समय जफर बिना अंग्रेजों की इच्छा कुछ करने में समर्थ नहीं था। इस कारण कानून–व्यवस्था की स्थिति खराब थी। उस समय मेरठ नगर अधिकांशतः एक दुर्ग में स्थित था जिसके सात गेट थे, जिनमें से कुछ आज भी देखे जा सकते हैं, लेकिन चारदीवारी का अब कोई चिह्न नहीं मिलता। अंग्रेजों ने इस नगर के निकट ही इसकी पूरब–उत्तर–पश्चिम दिशाओं में छावनी स्थापित की।

इस छावनी के क्षेत्र के लगभग बीचों–बीच 'आबू का नाला' बहता था जिसका प्रयोग उस समय पेयजल आपूर्ति के लिए होता था, आज इसमें गंदा पानी बहता है। इस नाले के उत्तरी क्षेत्र में यूरोपियन लोगों के लिए

सुविधाएं बनाई गईं जिनमें बंगले, गिरजाघर, कब्रस्थान (सीमेट्री), मॉल रोड, क्लब, कंपनी बाग आदि के अतिरिक्त तोपखाना और यूरोपियनों के बच्चों के लिए स्कूल आदि थे। इस नाले के दक्षिण में देशी सिपाहियों के लिए बैरक, मेस आदि बनाए गए। इस भाग में देशी रेजिमेंटों के अधिकारियों के लिए भी कुछ बंगले व अन्य सुविधाएं बनाई गईं।

इन दो क्षेत्रों को देखने पर अंग्रेजों के पक्षपातपूर्ण रुझान का साफ ज्ञान होता है। इनमें कंपनी बाग (इसका आज नाम गांधी बाग है) और मॉल रोड और अन्य सुविधाओं में भारतीयों को प्रवेश की अनुमति नहीं थी। यहां लगे बोर्डों पर स्पष्ट लिखा होता था – 'इन्डियंस एंड डॉग्ज नॉट एलाउड' (भारतीयों व कुत्तों का प्रवेश वर्जित)। इससे उनकी नस्लीय मानसिकता ही उजागर होती है। इसका परिणाम तो उन्हें झेलना ही पड़ता, और वह समय अब आ ही गया था।

चित्रः कंपनी बाग (गांधी बाग)।

सेना व सैनिकों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सदर बाजार की स्थापना की गई थी। इसके आसपास के क्षेत्र में आम नागरिक रहते थे। यह बाजार देशी सिपाहियों के लिए आबंटित क्षेत्र के पूरब में आबू नाले के निकट स्थित था जिसके साथ–साथ भी एक बाजार की स्थापना की गई थी जिसे आबू लेन के नाम से जाना जाता है। ये बाजार आज भी उपलब्ध हैं। सदर बाजार के दो मुख्य भाग थे (आज भी हैं) – एक थोक बाजार जहां से सेना के लिए बड़ी मात्रा में राशन आदि खरीदा

जाता था और दूसरा खुदरा बाजार जहां से व्यक्तिगत फुटकर जरूरतें पूरी होती थीं। आज की तरह उस समय सेना के पास अपनी आपूर्ति कोर नहीं थी इसलिए अधिकांश सामान स्थानीय बाजारों से खरीदा जाता था। यही कारण है कि अंग्रेजों द्वारा बसाई गई सभी छावनियों में सदर बाजार (अर्थात् मुख्य बाजार) की स्थापना की गई थी। इस बाजार में अधिक गहमा–गहमी रहती थी, विशेषकर रविवार व छुट्टी के दिन। यही वह बाजार था जहां से क्रांति का आरंभ होने वाला था, ऐसी क्रांति जो कंपनी राज को नींव से ही उखाड़ फेंकेगी। सदर बाजार के निकट ही कोतवाली भी स्थित थी जिसका क्षेत्र छावनी था। मेरठ शहर के लिए अलग कोतवाली थी जो दुर्ग के भीतर ही स्थित थी।

इस अवसर पर यहां तैनात सेना का आकलन करना भी उचित होगा। अन्य सभी छावनियों में देशी सिपाहियों की संख्या यूरोपियन सैनिकों की तुलना में कहीं अधिक थी; दूसरी ओर, केवल मेरठ ही वह छावनी थी जहां यह अनुपात यूरोपियन सैनिकों के पक्ष में था। मई 1857 में मेरठ में कंपनी सेना की तीन देशी रेजिमेंट और तीन ब्रिटिश रेजिमेंट तैनात थीं। देशी रेजिमेंटों में दो इंफेंट्री या पैदल (11वीं और 20वीं) रेजिमेंट और एक कैवेलरी या घुड़सवार (तीसरी) रेजिमेंट थी। इन तीनों रेजिमेंटों में देशी सिपाहियों की कुल संख्या 2,234 थी। दूसरी ओर, ब्रिटिश रेजिमेंटों में एक इंफेंट्री (60वीं किंग्ज रॉयल राइफल की पहली बटालियन), एक कैवेलरी या घुड़सवार तोपखाना (छठी ड्रागून गार्ड) और एक आर्टिलरी मैगजीन या तोपखाना रेजिमेंट थीं जिन तीनों में सैनिकों की कुल संख्या 1,778 थी। इनके अतिरिक्त, आर्टिलरी रेजिमेंट में 123 भारतीय गोलंदाज सिपाही भी थे जो उत्तरी क्षेत्र में रहा करते थे। यूरोपियन सैनिकों की संख्या देशी सिपाहियों की तुलना में कुछ ही कम थी, लेकिन उनके पास तोपखाना होने के कारण वे अत्यधिक शक्तिशाली थे। शायद यही कारण था कि अंग्रेजों को स्वप्न में भी आभास नहीं हुआ कि मेरठ में कभी विद्रोह हो सकता था। लेकिन यह हुआ और पूरे देश में फैला भी। इस विद्रोह को भड़काने में हमारा साधु अपना काम चुपचाप कर रहा था।

11
क्रांतिदूत का मेरठ आगमन

विश्वास किया जाता है कि हमारा नायक साधु मथुरा से चलकर पहले अंबाला गया और फिर वहां से उसने मेरठ की ओर रुख किया। लगभग जनवरी 1857 का समय था। वातावरण में अभी चर्बीयुक्त कारतूस का कोई आभास नहीं था। इस समय मेरठ में अफवाहों का बाजार किस प्रकार गर्म था, उसका अनुमान काय के वर्णन से लगाया जा सकता है–

> उत्तर भारत के सभी बड़े स्टेशनों में अनिश्चित लेकिन उत्सुक आशा से आंखें मेरठ की दिशा में देख रही थीं मानो कोई संकेत शीघ्र वहां से आएगा। सैनिक एक–दूसरे से पूछते थे कि मेरठ से क्या समाचार था। वे इस प्रकार के संकेत देते समाचारों को अखबारों में खोजने का प्रयत्न करते क्योंकि यहां सभी तरह की अजीब व परेशान करने वाली कहानियां रचित हो रही थीं . . . रोज उत्तेजना बढ़ती जा रही थी क्योंकि रोज कोई न कोई कहानी प्रचलन में आ जाती थी जो अंग्रेजों की दुष्ट योजनाओं में लोगों के विश्वास को सुदृढ़ करती थी।

साधु ने छावनी की परिक्रमा कर किसी ऐसे स्थान को खोजने का प्रयास किया जहां वह रुक सके। पिछले वर्षों के समान वह अकेला भी नहीं था। लगभग दो माह तक वह जिले के भिन्न भागों में कार्य करता रहा जिनमें लोगों को प्रेरित करना व अफवाहें फैलाना मुख्य थे। उसने कमल और चपाती अभियानों को भी गति प्रदान की। मार्च के अंत में वह मुख्य छावनी में उपयुक्त स्थान की खोज करने में विफल रहने पर उसने तोपखाने के निकट एक मठ में अपना ठिकाना बनाया। वहां निकटस्थ तोपखाने व नई जेल में कुछ देशी सिपाही अवश्य तैनात थे लेकिन वह

प्रसन्न नहीं था व किसी अधिक उचित स्थान की तलाश में था जहां वह अधिक सिपाहियों से संपर्क स्थापित कर सके।

उस समय मेरठ में दो जेलें थीं – एक केसरगंज में और दूसरी उस जगह जहां आज विक्टोरिया पार्क स्थित है। इस जेल के निकट ही सूरजकुंड स्थित है जो एक ऐतिहासिक अंतिम संस्कार स्थल है। इसी सूरजकुंड के बाहर ही यह मठ स्थित था। आज इस मठ में सुंदर मंदिर स्थापित है जिसे बाबा मनोहरनाथ मंदिर के नाम से जाना जाता है और इसकी भूमि पर स्वामित्व के लिए मुकदमा चल रहा है। तोपखाने, नई जेल और कुछ अन्य कार्यों में तैनात देशी सिपाही निकट ही रहा करते थे। ये सिपाही इस मठ में पूजा–अर्चना हेतु आया करते थे।

चित्रः मेरठ स्थित बाबा मनोहरनाथ मंदिर जहां साधु आरंभ में ठहरा व अंग्रेज जिलाधिकारी ने उसे जिला छोड़ने का आदेश दिया।

साधु शाम को मठ में आने वाले सिपाहियों व अन्य लोगों को प्रवचन सुनाता, अंग्रेजों के शोषण व अत्याचार के बारे में बताता और उन्हें भड़काने का प्रयास करता। जिले के उपनगरों व गांवों में अपने दलों को नियुक्त कर वह इस मठ में कार्य आरंभ कर चुका था लेकिन उसे अपनी सफलता पर संदेह था। उस समय तक उसके पास बात करने के जो भी बिंदु थे, वे सभी सामान्य थे और उनके आधार पर कोई विशाल विद्रोह नहीं भड़काया जा सकता था। वह चाहता था कि दावानल भड़के जो पूरे देश को अपने आगोश में ले ले। दूसरा, मठ में आने वाले सिपाहियों की संख्या बेहद सीमित थी। इस क्षेत्र में यूरोपियन सैनिकों की संख्या अधिक थी,

देशी सिपाहियों की संख्या 200 से कुछ ही अधिक थी क्योंकि इस क्षेत्र में नई जेल में तैनात देशी सिपाही भी रहा करते थे।

इस मठ में सिपाहियों के अतिरिक्त आमलोग भी आते थे। साधु अक्सर देशप्रेम के संदर्भ में धर्म की व्याख्या करता। प्रतिदिन शाम होते ही मंडली सज जाती, धार्मिक गीतों के साथ–साथ देशप्रेम के गीत भी गाए जाते, हिन्दू धर्म में देश–सेवा और धर्म–सेवा को एक–दूसरे का पूरक ही माना गया है। प्रवचन में साधु किसी न किसी प्रकार अंग्रेजों के पक्षपात, अत्याचार और शोषण का विवरण अवश्य देता। चपाती अभियान को आगे बढ़ाते हुए वह रोटी भी बांटता और उनसे वचन लेता कि समय आने पर वे उसकी रोटी की लाज रखेंगे। जिस आकर्षक विधि से साधु रोज शाम सारी गतिविधि संपन्न करता, उससे मंडली में आने वाले सिपाहियों और आमलोगों की संख्या में दिनोंदिन वृद्धि होने लगी थी, जो उसकी बढ़ती लोकप्रियता का प्रमाण था, लेकिन इसका नकारात्मक प्रभाव भी हुआ। कुछ ही दिनों में अंग्रेजों को उसकी गतिविधियों पर संदेह होने लगा और उसे जिलाधिकारी का जिला छोड़ने का आदेश कह सुनाया गया। उसके बारे में जॉन विलियम काय ने अपनी पुस्तक *A History of the Sepoy War in India* (भारत में सिपाही युद्ध का इतिहास) में वर्णन किया है। उसकी चर्चा *मेरठ गेजेटियर* में भी हुई है जिसमें इस साधु का इस प्रकार वर्णन है–

> अप्रैल के आरंभ में एक हिन्दू फकीर जो हाथी की सवारी करता था और उसके साथ अनेक घुड़सवार और पालकियां (कैरेजेज) होते थे, वह इस शहर में आया जहां छावनी क्षेत्र से अनेक देशी सिपाही उसके पास जाया करते थे। उस पर संदेह था कि वह देशी सिपाहियों को अंग्रेजों के विरुद्ध भड़काता था तथा उसे उस स्थान को छोड़ने के लिए आदेश दिया गया, लेकिन ऐसा कहा जाता है कि वह 20वीं देशी इंफेंट्री की बैरकों में कुछ समय तक छुपा रहा।

इसी प्रकार का वर्णन सावरकर ने भी अपनी पुस्तक *1857 का स्वातंत्र्य समर* में किया है। काय ने अपनी पुस्तक में इस साधु का रोचक वर्णन किया है–

> दुष्टता का संदेशवाहक किसी एक या दूसरे रूप में देश में भ्रमण कर रहा था, अब वह हाथी पर सवार एक घुमक्कड़ फकीर, या धार्मिक साधु के वेश में अनेक शिष्यों के साथ

> मेरठ में था। यह निश्चित था कि वह सिपाहियों के मस्तिष्क में बड़ा विप्लव मचा रहा था, इसलिए पुलिस अधिकारियों ने उसे वहां से प्रस्थान करने को कहा। वह चला गया, लेकिन यह विश्वास किया जाता है कि वह किसी देशी रेजिमेंट की लाइन्स [निवास] से आगे नहीं गया।

मेजर जी. डब्ल्यू. विलियम्स, जो सेना पुलिस का कमीश्नर था, द्वारा लिखित *Meerut Narrative* (मेरठ विवरण) में इस घटना का वर्णन इस प्रकार किया गया है–

> अनेक संदेशवाहक जो देश में भ्रमण कर रहे थे, उनमें से एक अप्रैल में मेरठ में दिखाई दिया, जो फकीर प्रतीत होता था, वह अपने शिष्यों के साथ हाथी पर चलता था, और उसके पास घोड़े और बग्घियां भी थीं। उसके पास देशी रेजिमेंटों के सिपाही बार–बार उसके पास जाते थे जिसने ध्यान आकर्षित किया, और उसे पुलिस के माध्यम से आदेश दिया गया कि वह उस स्थान को छोड़ दे, जिसे उसने ऊपरी तौर पर मान लिया, लेकिन यह कहा जाता है कि वह बीसवीं देशी पैदल [रेजिमेंट] में कुछ समय तक रुका।

साधु के लिए अनिवार्य था कि मठ छोड़ने के आदेश का पालन करे अन्यथा अंग्रेज अधिकारी उस पर कार्यवाही कर सकते थे जिससे सारी योजना पर पानी फिर सकता था। अब तक अप्रैल 1857 का आरंभ हो चुका था। अब उसे प्रतीत होने लगा था कि वह कुछ उपलब्धि प्राप्त करने के कगार पर था क्योंकि नए कारतूसों के परीक्षण का समाचार हाल ही में प्राप्त हुआ था, लेकिन इस आदेश ने उसकी आशाओं पर तुषारापात कर दिया था। अधिकारियों से दो दिन का समय मांगकर शाम की सभा में उसने अपनी समस्या कह सुनाई।

यह आदेश मानो एक स्वर्णिम अवसर के रूप में आया था। उसे सलाह दी गई कि 20वीं देशी इंफेंट्री के निकट ही एक छोटी–सी औघड़धानी (शिवलिंग) है जिसके निकट स्थित कुएं पर हिन्दू–मुसलमान सिपाही पानी भरने आते थे, और वहीं वह अपना नया ठिकाना बना सकता था। आज यह स्थान मेरठ का सर्वाधिक प्रसिद्ध बाबा औघड़नाथ मंदिर है। आचार्य दीपांकर ने अपनी पुस्तक *स्वाधीनता आंदोलन और मेरठ* में लिखा है कि यह साधु औघड़ बाबा के नाम से मंदिर में ठहरा था जिसके कारण ही इस

मंदिर का नाम बाबा औघड़नाथ मंदिर हो गया है। अंग्रेज देशी सिपाहियों को 'काला' या 'काली' कहते थे जबकि देशी लोग प्लाटून को 'पल्टन' कहकर पुकारते थे, जिसके कारण इस मंदिर का नाम काली पल्टन मंदिर भी हो गया है। इस समय यह मंदिर विशाल प्रागंड़ में स्थित है और सभी त्यौहारों पर इसकी छटा देखते ही बनती है। प्रत्येक वर्ष सावन माह में बहुत बड़ी संख्या में कांवड़ियों द्वारा भगवान आशुतोष को जलार्पण करने के कारण यह पूरा मंदिर भगवा-मय हो जाता है।

चित्रः मेरठ में औघड़नाथ मंदिर जिसे काली पल्टन मंदिर भी कहा जाता है।

साधु को संदेह था कि हाथी, घुड़सवारों और पालकियों के कारण वह अंग्रेजों के संदेह का पात्र बना था, इसलिए उसने उन सबको आसपास के गांवों व उपनगरों में काम करने भेज दिया। यह माना जाता है कि इस अभियान में अनेक घुमंतू संन्यासियों, फकीरों और मदारियों ने बड़ी भूमिका निभाई थी। इस साधु के साथी भी इन्हीं में सम्मिलित हो गए थे। उसे अच्छी तरह ज्ञात था कि यदि सिपाही विद्रोह कर भी दें तो भी यह बिना असैनिक नागरिकों का सहयोग प्राप्त किए सफल नहीं हो सकता था।

एक स्थान से दूसरे स्थान जा–जाकर क्रांति की अलख जगाने वाले लोगों के बारे में अनेक लेखकों ने लिखा है। डॉ. निधि शर्मा ने अपनी पुस्तक *1857* में भी इस ओर संकेत किया है। सावरकर अपनी पुस्तक में लिखते हैं–

> सैकड़ों प्रचारक फकीरों और संन्यासियों का बाना धारण कर स्थान–स्थान पर गुप्त प्रचार करने लगे। भीख मांगने के बहाने हर घर में जाना सुलभ होने से और इस तरह शत्रु के मन में किसी तरह की आशंका उत्पन्न न होने के कारण ये देशभक्त फकीर और संन्यासी दर–दर घूमकर दासता के प्रति घृणा और भावी अभिलाषा लोक समूह में प्रदीप्त किया करते थे।

सूरज कुंड के निकट स्थित मठ में तो वह साधु मात्र कुछ सिपाहियों के संपर्क में था, इस नए स्थान पर उसका संपर्क तीनों देशी रेजिमेंटों के सिपाहियों से हो गया। इसके अतिरिक्त, मठ में आने वाले सिपाही मुख्य रूप से आर्टीलरी रेजिमेंट के थे जिन्हें मस्कट या राइफल का प्रयोग नहीं करना होता था, जबकि यहां के सैनिकों को इन हथियारों का प्रयोग करना होता था। नये विवादास्पद चर्बीयुक्त कारतूसों का परीक्षण बस आरंभ होने ही वाला था। मठ में तो केवल शाम को ही सिपाही आते थे, लेकिन यहां वे सारा दिन आते–जाते रहते थे क्योंकि यहां स्थित कुआं उनके लिए मीठे और शीतल पेयजल का स्रोत था। अधिकांश समय साधु स्वयं ही उनके लिए पानी निकालता, अपने हाथों से पिलाता और अपनी बात को आगे बढ़ाता। वह उन्हें बताता कि मुट्ठी–भर अंग्रेजों ने उनके ही दम पर पूरे भारत पर अधिकार कर लिया था। देशी सिपाहियों को प्रमोशन या वेतन के रूप में कुछ नहीं मिलता था जबकि अंग्रेज उनके परिश्रम पर मजे कर रहे थे। वह उनके घावों को कुरेदता कि उन्हें न धन मिल रहा था न सम्मान। वह उन्हें कहता कि वे अपने साथी देशवासियों को मारकर विदेशियों के खजाने भर रहे थे। अब तो उसके पास सिपाहियों को भड़काने का एक प्रभावी सूत्र भी था – चर्बीयुक्त कारतूस, जो हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए एक–समान उत्तेजक था। सिपाहियों के बदलते भावों को देखकर वह आसानी से अनुमान लगा लेता था कि उसके शब्दों का गहरा प्रभाव हो रहा था। उसे विश्वास था कि बस अंतिम चोट की जरूरत थी, और वह अपनी योजनानुसार 31 मई की प्रतीक्षा कर रहा था। सिपाहियों का भी विचार था कि वे उस समय कार्यवाही करेंगे जब उनका प्रशिक्षण नए

कारतूसों पर आरंभ होगा। यह भी सत्य है कि सिपाहियों ने किसी भी देशद्रोही को सजा देने की मूक सहमति दे दी थी।

छन–छनकर समाचार प्राप्त हो रहे थे कि बस अब मेरठ में भी कारतूसों के प्रशिक्षण की तैयारी चल रही थी। लोहा गरम हो रहा था, थोड़ा और गरम होने की प्रतीक्षा करनी थी जिसके बाद आखिरी चोट मार दी जाएगी। स्वयं को अपने लक्ष्य के बहुत निकट देखकर साधु और भी उत्साहित था। अब तो वह बहुत कम समय के लिए सोता था। करने के लिए उसके पास बहुत काम थे। उसे न केवल योजना बनानी थी बल्कि उसे कार्यान्वित भी करना था। सिपाहियों के अतिरिक्त अन्य अनेक लोगों से भी उसे संपर्क साधना था। अपने आंख–कान भी खुले रखने थे। तभी उसे पहला अवसर प्राप्त हो गया।

13 अप्रैल 1857, वैशाखी का दिन। उस समय यह एक कृषि–आधारित त्यौहार था और 62 वर्ष बाद 1919 में जलियांवाला बाग के नरसंहार के बाद इस त्यौहार को मनाने का अभिप्राय भी बदल गया। पंजाब से आने वाले सिपाही अधिकांश मुस्लिम थे लेकिन वैशाखी का त्यौहार सभी लोग मिलजुलकर मनाते थे। शाम को सभी सिपाही भोजन कर रहे थे जब एक सिपाही जिसका नाम ब्रजमोहन सिंह था, उसने बताया कि उसने नए कारतूसों के चर्बीयुक्त लिफाफे को अपने दांतों से फाड़ा था। उसकी बात सुनकर सभी चौंक पड़े जब उसने कहा कि देर–सवेर सभी सिपाहियों को उन कारतूसों का प्रयोग करना ही होगा। इस घटना का विवरण *मेरठ गेजेटियर* में इस प्रकार उपलब्ध है–

> ब्रजमोहन नामक एक सिपाही ने अपने साथियों को बताया कि उसने उनका [विवादास्पद कारतूसों का] प्रयोग किया था, और यह कि सभी को यह काम करना होगा। इसका परिणाम यह हुआ कि 13 अप्रैल को उसके घर आग लगा दी गई, और इस दिन से आग लगने की घटनाएं बार–बार होने लगीं।

अन्य सिपाही बाहर से शांत प्रतीत हो रहे थे लेकिन उनमें भीतर ही भीतर तूफान उमड़ रहा था। उसी रात को ब्रजमोहन सिंह के कमरे को आग लगा दी गई। इसके बाद जिस किसी पर संदेह होता, उसके घर या कमरे में आगजनी होती। अवसर मिलने पर अंग्रेज अधिकारियों के निवास स्थानों पर भी ऐसी आगजनी की घटनाएं हुईं। एक आगजनी की घटना क्वार्टर मास्टर गोदाम में भी हुई। इस घटना का विवरण *मेरठ गेजेटियर*

में दिया है। इतिहासकार अमित पाठक ने भी अपनी पुस्तक में इस घटना का वर्णन किया है। उस समय अंग्रेजों ने समझा कि आग लगने की वे घटनाएं अधिक गरमी और लू के कारण हैं जो वर्ष के इस समय देश के इस भाग में सामान्य हैं। उस समय अधिकांश छतें छप्पर व घासफूस से बनी होती थी, जो आसानी से आग पकड़ लेती थीं।

इस घटना के दस दिन बाद सभी सिपाहियों ने हाथ में अपनी–अपनी पवित्र पुस्तकें लेकर शपथ ली कि जब भी उन्हें ये कारतूस अभ्यास के लिए दिए जाएंगे, वे उनका प्रयोग नहीं करेंगे। अंगारों में लपटें दिखने लगी थीं।

अप्रैल 1857 का अंतिम सप्ताह आते–आते क्रांति के लिए उपयुक्त वातावरण बन रहा था, जिसमें चर्बीयुक्त कारतूसों की वार्ता मुख्य भूमिका निभा रही थी। 26 अप्रैल 1857 को अंबाला में भी नए कारतूसों का प्रशिक्षण आरंभ करने की योजना बनाई गई, लेकिन सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया। 5 दिन चले इस विद्रोह में अंग्रेजों के बंगलों, शस्त्रागार और घुड़साल को आग के हवाले कर दिया गया। इस विद्रोह को कितनी बेरहमी से दबा दिया गया था, इसका प्रमाण यहां मिली लाशों से चलता है जो हाल ही में कुओं से बरामद हुई हैं।

बैरकपुर में हुए मंगल पांडे के बलिदान का समाचार भी आ पहुंचा था। अवध व अंबाला की घटनाएं भी अब चर्चा का विषय थीं। लखनऊ में भी 7वीं देशी रेजिमेंट को निःशस्त्र कर भंग कर दिया गया था। साधु को आगजनी की घटनाओं का मंतव्य भी ज्ञात हो गया था, जिन्हें सिपाही गुप्त रूप से कर रहे थे। वे भीतर से धधक रहे थे क्योंकि उन पर कारतूस प्रयोग न करने का दबाव उनके परिवारों से भी आ रहा था। इस संबंध में जॉन विलियम काय ने लिखा है कि इन भंग की गई इकाईयों के सिपाहियों ने दूसरे स्थानों पर तैनात साथियों और मित्रों को पत्र लिखे। परिजन कह रहे थे कि यदि सिपाही उन चर्बीयुक्त कारतूसों का प्रयोग करते हैं तो उनसे सभी प्रकार के संबंध समाप्त हो जाएंगे क्योंकि उनकी जाति व धर्म नष्ट हो चुके होंगे।

समाचारों के साथ–साथ अनेक प्रकार की अफवाहें भी गरम हो रही थीं। एक के बाद एक स्थानों पर सिपाही विद्रोह कर रहे थे, लेकिन अंग्रेज अपने ही घमंड में जी रहे थे। वे समझ रहे थे कि देशी सिपाहियों के पास उनकी सेवा करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था। यही मानसिक रुझान उनके लिए बड़े कष्ट का कारण बनने जा रहा था।

12
क्रांतिदूत का विफल आह्वान

24 अप्रैल 1857। अन्य स्थानों पर की गई गलतियों से न सीखते हुए अंग्रेजों ने मेरठ में भी नए कारतूसों का प्रयोग करने का निश्चय किया। सिपाहियों को 23 अप्रैल की शाम अधिकारियों का यह निर्णय ज्ञात हो चुका था और यह भी कि इसका आरंभ तीसरी घुड़सवार रेजिमेंट से होगा। शाम को रोलकॉल (गिनती प्रक्रिया) के बाद सिपाही एकत्र हुए और उन्होंने गंगाजल और अपनी पवित्र पुस्तकों को हाथ में लेकर सौगंध खाई कि वे उन कारतूसों को हाथ नहीं लगाएंगे। वे सभी तनावग्रस्त थे। रात आंखों में गुजरी थी। उनमें से कुछ शांति की खोज में साधु के पास भी गए थे, लेकिन उसने वीरों के कर्तव्य के बारे में बताया, उसने कहा कि अत्याचार को चुपचाप सहन करना ही इसे बढ़ावा देता है।

24 अप्रैल को रोज की तरह तीसरी घुड़सवार रेजिमेंट के सिपाही परेड ग्राउंड में पंक्तिबद्ध हुए। आरंभिक परेड के बाद रेजिमेंट के अधिकारी कारमाइकेल स्मिथ ने नए कारतूसों को वितरित करने का आदेश दिया। कहा जाता है कि ये कारतूस खाली (डमी) थे जैसे प्रशिक्षण के लिए प्रयोग किए जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन खाली कारतूसों को देने का प्रयोजन सिपाहियों की इच्छा या अनिच्छा को जानना था। 90 में से 85 सिपाहियों ने उन कारतूसों को स्वीकार करने या प्रयोग करने से मना कर दिया। उन्होंने कहना चाहा कि वे विद्रोह नहीं कर रहे थे लेकिन वे अवश्य ही अपने जाति–धर्म के प्रति निष्ठावान होने के कारण कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकते थे जो उनके लिए सामाजिक धब्बा साबित हो। कारमाइकेल स्मिथ अपनी जिद्द पर अड़ा रहा। जब उसके दबाव का कोई प्रभाव नहीं हुआ तो उसने इन 85 सिपाहियों को नई जेल में डालने का आदेश कह सुनाया।

अन्य जगहों पर हुए विद्रोह के बाद की गई कार्यवाही से भिन्न इस बार इस रेजिमेंट को निःशस्त्र व भंग करने के स्थान पर इन सिपाहियों पर अवमानना व अवज्ञा करने के लिए कोर्ट मार्शल करने का निर्णय किया गया। इसके बाद इन 85 सिपाहियों का 6, 7 और 8 मई, 1857 को कोर्ट मार्शल किया गया। मात्र तीन दिनों में 85 सिपाहियों के मामले का निपटारा! इसी से ज्ञात होता है कि अंग्रेज किस प्रकार न्याय किया करते थे।

इस टुकड़ी का हवलदार मातादीन था। सबसे पहले उसने कारतूसों के वितरण का विरोध किया था। उसने कहा कि उसका व उसके साथियों का विचार था कि जिस प्रकार इन कारतूसों का प्रयोग करने के लिए कहा जा रहा था, उसमें पर्याप्त संदेह का स्थान था और उन्हें विश्वास में नहीं लिया जा रहा था। ऐसी परिस्थिति में अंग्रेज अधिकारियों को चाहिए था कि यदि वे मानते थे कि इन कारतूसों में धार्मिक रूप से प्रतिबंधित कोई तत्त्व नहीं लगाया गया था तो विशेषज्ञों से उनकी जांच करवानी चाहिए थी और कुछ सिपाहियों को भी आयुधालय में ले जाकर दिखाना चाहिए था कि उनके धर्म के साथ कोई खिलवाड़ नहीं किया जा रहा था, क्योंकि मेरठ उन तीन स्थानों में से एक था जहां कारतूसों को पैक किया जा रहा था। इसके विपरीत, अंग्रेज हठधर्मिता पर उतर आए थे। उनकी मानसिकता से प्रतीत होता था कि वे किसी भी प्रकार भारतीयों को नीचा दिखाने पर उतारू थे।

8 मई को कोर्ट मार्शल ने सभी 85 सिपाहियों को 10 वर्ष सश्रम कारावास की सजा सुनाई। इसके बाद कोर्ट भंग कर दी गई। जब इसका निर्णय तीसरी रेजिमेंट के कमान अधिकारी को भेजा गया तो उसने इन 85 सिपाहियों में से 11 की सजा घटाकर 5 वर्ष कर दी और इस निर्णय के पक्ष में यह कहा कि वे 18 वर्ष से कम आयु के थे। इस घटनाक्रम से अंग्रेजों के अपने बनाए कानून का उल्लंघन स्पष्ट होता है और उनकी मिलीभगत का भी, साथ ही उनकी न्याय प्रक्रिया पर गंभीर प्रश्न उठाए जा सकते हैं।

मेरठ गेजेटियर लिखता है कि इस कोर्ट मार्शल में 9 हिंदू और 6 मुसलमान अधिकारियों को भी शामिल किया गया था जिनमें से 10 मेरठ से और 5 दिल्ली से आए थे, लेकिन यह इस तथ्य को जानबूझकर छुपा जाता है कि सभी वरिष्ठ अधिकारी अंग्रेज थे। सेना में पदानुक्रम का सर्वाधिक महत्त्व होता है, अर्थात् अनेक कनिष्ठ अधिकारियों की बात को

एक वरिष्ठ अधिकारी द्वारा नकारा जा सकता है। *मेरठ गेजेटियर* यह भी लिखता है कि इन कैदियों ने अपने बचाव में कोई तर्क नहीं दिया। ऐसा कैसे हो सकता है। उन्हें अवश्य ही बोलने का कोई अवसर नहीं दिया गया। इसमें यह भी लिखा है कि इन 15 देशी अधिकारियों में से 14 ने इन सभी को दोषी माना, वरिष्ठ अंग्रेज अधिकारियों की उपस्थिति को यह कथन अनदेखा ही कर देता है। इस विसंगति को काय भी यह लिखते हुए स्वीकार करता है–

> दिल्ली रेजिमेंटों के कुछ देशी अधिकारी महान मेरठ कोर्ट मार्शल में बैठे थे, लेकिन वे कैदियों से कितनी सहानुभूति रखते थे, इसे निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

इन 85 सिपाहियों के नाम हमें ज्ञात हैं। उनके नाम मेरठ स्थित विक्टोरिया पार्क में निर्मित स्मारक व दिल्ली रोड पर स्थित राजकीय स्वतंत्रता संग्राम संग्रहालय में बने 1857 क्रांतिवीरों को समर्पित शहीद स्मारक में देखे जा सकते हैं। इस पुस्तक के अंत में भी इन वीरों के नाम दिए जा रहे हैं। इनमें सबसे पहला नाम हवलदार मातादीन का है जिसने सबसे पहले कारतूसों का प्रयोग करने से मना किया था। इन नामों में हिन्दू और मुसलमान दोनों नाम शामिल हैं। यह बता देना भी उचित होगा कि इनमें से हिन्दू सिपाही मुख्य रूप से अवध क्षेत्र से आते थे और मुसलमान पंजाब के उस क्षेत्र से जो आज हरियाणा का भाग है।

9 मई 1857

अंग्रेजों ने जिस प्रकार देशी सिपाहियों का अपमान किया था, लगता था उससे उनका मन अभी भरा नहीं था। वे इस बात की अनदेखी कर रहे थे कि भारतीयों की सहनशक्ति की सीमा का उल्लंघन हो रहा था, जिससे ज्वालामुखी का फटना निश्चित हो सकता था। अपने गुमान में, कोर्ट मार्शल के समाप्त होने के अगले ही दिन उन्होंने ऐसा कृत्य कर डाला जिससे वे बच सकते थे। उनका विचार था कि इससे बाकी देशी सिपाहियों में भय व आतंक पैदा कर सकेंगे कि उसके बाद कोई और उनके विरुद्ध आवाज नहीं उठाएगा, लेकिन हुआ ठीक इसके विपरीत।

85 सिपाहियों को दंड तो पिछले ही दिन सुनाया जा चुका था। अनेक अंग्रेज और भी सख्त दंड के पक्ष में थे ताकि और कोई कभी 'हिमाकत' न कर सके। दंड को आधिकारिक रूप से सुनाने के बहाने मेरठ में स्थित सभी सैनिक इकाईयों को मुख्य परेड ग्राउंड में एकत्रित होने का आदेश

दिया गया, तोपखाना सहित। रेजिमेंटों को इस प्रकार खड़ा किया गया कि सभी देशी सिपाही सीधा तोपखाने की मार में रहें। सभी यूरोपियन पैदल सैनिक सशस्त्र थे, यूरोपियन अश्वारोही मानो अपने घोड़ों की ऐड़ लगाने को उद्यत थे। तोपखाने से दो बड़ी तोपें भी मंगाकर तैयार और तैनात कर ली गई थीं। आज तोपखाने में तैनात देशी गोलंदाज सिपाहियों को भी दूसरे देशी सिपाहियों के साथ ही खड़ा किया गया था। अंग्रेजों ने वे सारे प्रबंध किए थे जिससे देशी सिपाहियों द्वारा किसी भी 'अवांछित' कार्यवाही को तुरंत ही दबाया जा सके। इनकी तुलना में देशी सिपाहियों को मस्कट अवश्य दी गई थीं, लेकिन उन्हें गोला–बारूद निर्गत नहीं किया गया था। देशी या विदेशी, सभी चेहरों पर तनाव साफ देखा जा सकता था।

आज गरमी भी कुछ अधिक थी। सूरज बादलों के साथ अठखेली कर रहा था, वातावरण में नमी अधिक होने से पसीना खूब आ रहा था और सूख नहीं पा रहा था। जैसे ही सूरज बादलों के पीछे छिपता, कुछ देर को कुछ राहत मिलती, और जैसे ही यह अपने तेज को बरसाता, असहाय आंखें बरबस ही किसी पेड़–छांव की तलाश करने लगतीं। मात्र इसलिए ही नहीं, ये इसलिए भी असहाय थीं क्योंकि उनके सामने बर्बरता और अपमान का खेल खेला जा रहा था, और इसमें भारत और भारतवासियों के सम्मान को जबरदस्त ठेस पहुंचाई जा रही थी, परंतु वे कुछ कर सकने में स्वयं को विवश पा रहे थे। उस समय कोई भी विरोध केवल मृत्यु व विनाश का वाहक होता। यदि वे स्वयं ही नष्ट हो जाएं तो क्रांति का लक्ष्य कौन पूरा करेगा? उनके लिए चिंता का विषय यह भी था कि वे भीतर ही भीतर क्रांति के लिए तैयार थे, लेकिन उन्हें इसके लिए 31 मई का दिन दिया गया था, जिसमें अभी भी तीन सप्ताह का समय था। स्थिति विकट थी।

अंग्रेज अपनी शक्ति के प्रति आश्वस्त थे। उन्हें मेरठ में विद्रोह होने की बिल्कुल भी आशंका नहीं थी, जिसका कारण है कि अन्य छावनियों में शक्ति संतुलन देशी सिपाहियों के पक्ष में था, लेकिन जहां तक मेरठ का प्रश्न था, यह पूरी तरह अंग्रेजों के पक्ष में था।

सारा प्रबंध पूरा होने के बाद परेड ग्राउंड में 85 दंडित सिपाहियों को लेकर आया गया। उन्हें मैदान के मध्य में रिक्त स्थान पर खड़ा किया गया। वहां से वे सभी काले–गोरे सैनिकों को दिखाई दे रहे थे। वे सैनिक वरदी में थे, उनके रैंक, बिल्ले और बैज अभी भी लगे थे, लेकिन वे खाली हाथ थे। इसके बाद गैरिसन कमांडर ने उनका 'अपराध' और दंड पढ़ सुनाया। इसके बाद 'कैशियरिंग' की कार्यवाही हुई जिसमें नियमानुसार उनकी बेल्टों

व रैंकों को नोच लिया जाना चाहिए, लेकिन अंग्रेज तो देशी सिपाहियों का अपमान करना चाहते थे। न केवल उनके रैंक व बेल्ट, बल्कि उनके बैज और बिल्लों को भी नोच लिया गया, उनकी वरदी को भी फाड़ दिया गया, जूतों और जुराबों को भी उतरवा लिया गया।

The Mutiny of the Bengal Army (बंगाल सेना का विद्रोह) का लेखक, जो स्वयं को सर चार्ल्स नेपियर के अधीन कर्मी कहकर वर्णित करता है, लिखता है–

> उस सुबह [9 मई] दिन निकलने के साथ, विभिन्न पोस्टों पर तैनात सुरक्षाकर्मियों के अतिरिक्त स्टेशन के सभी सैनिकों को 60वीं राइफल्स के परेड ग्राउंड पर परेड कराई गई जिनमें [यूरोपियन] कारबाइनर्स, [यूरोपियन] 60वीं राइफल्स, तीसरी लाइट केवेलरी, देशी पैदल सैनिकों की 11वीं व 20वीं रेजिमेंट, हलका तोपखाना और घुड़सवार तोपखाने के सैनिक सम्मिलित थे। तब कारबाइनर्स और राइफल्स को बंदूकें भरकर तैयार रहने को कहा गया, और यही आदेश घुड़सवार तोपखाने को दिया गया। ऐसा करने के बाद, विद्रोही सिपाहियों को मैदान पर लाया गया, यूरोपियन सैनिकों व तोपों को इस प्रकार सजाया गया था कि असंतोष या विद्रोह की जरा–सी भी गतिविधि का तुरंत परिणाम नरसंहार होता।

इसके बाद, लौहारों को बुलाकर उन्हें हथकड़ियां और बेड़ियां पहना दी गई। कहा जाता है कि उन्हें शारीरिक दंड भी दिया गया। इस समय दंडित सिपाहियों ने अपने मामले पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने की गुहार भी लगाई, लेकिन उनकी बात पर किसी ने भी कान न धरा। विनाशकाले विपरीत बुद्धि। अंग्रेजों के साथ यही होने वाला था। दंडित सिपाहियों की दयनीय अवस्था का वर्णन करते हुए काय लिखता है कि उनकी निष्ठा का बदला किस प्रकार अत्याचार से दिया गया–

> यह दारूण दृश्य था और अनेक लोग दया से द्रवित थे क्योंकि उनमें से कुछ रेजिमेंट के पुष्प थे – वे सैनिक जो अपनी निष्ठा से कभी विलग नहीं हुए थे। उन्होंने अपने हाथ उठाकर और तेज आवाज में जनरल को दया की गुहार लगाई कि उनके साथ ऐसा बुरा बर्ताव न किया जाए। आशा की कोई किरण न देखकर वे अपने साथियों की ओर मुड़े और उस अपमान के लिए उन्हें भला–बुरा कहा।

लेकिन चलने को तैयार भरी हुई तोपों और राइफलों व ड्रागून की चमकती तलवारों को देखते हुए देशी सिपाही उनके बचाव में सामने नहीं आ सके। यह वह समय था जब सभी शुभ चीजों को ग्रहण लगने वाला था। बस यही अब अंग्रेजों के साथ होने वाला था।

यह सारी कार्यवाही लगभग दो घंटे चली। इसके बाद, इन सभी दंडित सिपाहियों को पैदल ही लगभग तीन किमी दूर स्थित नई जेल में ले जाया गया। सिविलियनों में भी खौफ पैदा करने के उद्देश्य से उन्हें सीधा मॉल रोड से न ले जाकर निकट के बाजार से होकर ले जाया गया। इस समय ये सभी सिपाही अन्य देशी सिपाहियों की रक्षा में थे। किसी अंग्रेज अधिकारी की अनुपस्थिति के कारण दंडित सिपाही अपने साथी सिपाहियों को बुरा–भला कह रहे थे कि वे कायर थे और अपने धर्म, अपनी जाति से खिलवाड़ कर रहे थे। बाजार में सिविलियन भी यह नजारा देख रहे थे। वे भी रक्षक सिपाहियों को कोस रहे थे। वे खुलेआम कह रहे थे कि उनकी सेवा के बदले अंग्रेज कैसा प्रतिफल दे रहे थे।

इस सभी के कारण देशी सिपाही और भी अधीर हो रहे थे। व्यग्रता उनके हावभाव से झलक रही थी। एक रक्षक ने तो व्याकुलता में एक सिविलियन पर ही बंदूक तान दी थी।

इस समाचार को सुनकर नगरवधुएं भी सड़क किनारे आ खड़ी हुई थीं। सिपाही मनोरंजन के लिए इन तवायफों के कोठों पर जाया करते थे। आज उन्होंने ही उन्हें नामर्द व वीर्यहीन की संज्ञा दे डाली। वे इस पर ही नहीं रुकीं, उन्होंने अपनी चूड़ियां उतारकर उनके चेहरों पर फेंक दी। रक्षक सिपाही स्वयं को शांत बनाए रहे, म्यानों में उनकी तलवारें फड़क रही थीं, लेकिन उन्हें ज्ञात था कि उस समय विद्रोह करने का परिणाम केवल और केवल विफलता होती। अंग्रेज पूरी तरह तैयार थे और किसी भी विद्रोह को मिनटों में दबाया जा सकता था। सैनिकों को विजय प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षण दिया जाता है, वे हारी हुई बाजी उस समय किस प्रकार खेल सकते थे? रक्षक सिपाहियों ने उस साधु को भी देखा जो बाजार के एक छोर पर खड़ा उन्हें चमक–भरी दृष्टि से देख रहा था।

क्रांति के बाद हुई समीक्षा में अंग्रेजों ने दंडित सिपाहियों को केवल देशी सिपाहियों की रक्षा में जेल भेजे जाने को बड़ी भूल माना है। तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड केनिंग ने अपने पत्र में लिखा है कि जिस प्रकार उन्हें जेल ले जाया गया, इससे रक्षक सिपाहियों की मानसिकता पर दुष्प्रभाव

पड़ा जिसका कारण बागी सिपाहियों द्वारा अपने रक्षकों को खरी–खोटी सुनाना था और इसका परिणाम अंततः विद्रोह में हुआ। आप स्वयं पढ़ें कि उसने 5 जून 1857 को वर्नन स्मिथ को क्या लिखा–

> परेड में सिपाहियों को हथकड़ी व बेडियां पहनाने में कई घंटे लगे वह भी उन लोगों की उपस्थिति में जो पहले से ही मित्रवत् नहीं थे और उनमें से अनेक कारतूस की अफवाह में विश्वास करते थे, जिसने पूरी ब्रिगेड को शीघ्र ही उबाल पर ला दिया। ऐसे समारोह के बाद पिचासी कैदियों को देशी सुरक्षाकर्मियों की सुरक्षा में ही बंदीग्रह ले जाना, विशेषकर उनके अपराध को और सेना की मानसिक स्थिति को देखते हुए, यह ऐसी गलती थी जो पूरी तरह समझ से बाहर है।

*

दंडित सिपाहियों को नई जेल में सुरक्षित कर दोपहर तक सभी सिपाही अपनी बैरकों में लौट गए थे। शनिवार शाम पी.टी. नहीं होती थी, इसलिए यह दिन उनके लिए मौज करने का होता था। आज के दिन वे बाजार जाते, मनोरंजन के अन्य स्थानों पर जाते, लेकिन आज यह सब उनकी योजना का भाग नहीं था।

उनके मन आतुर थे, बात–बात पर बेसब्र हुए जा रहे थे। हृदय का दुःख अब–तब गुस्से में व्यक्त हो रहा था। आज जो अपमान हुआ था, वह असहनीय प्रतीत हो रहा था। युवा सिपाही तो तुरंत ही प्रतिशोध लेना चाहते थे, लेकिन कुछ वरिष्ठ सिपाही उन्हें रोक रहे थे। अभी नहीं, सही समय आने पर। एक युवा सिपाही तो मानो गुस्से से पागल ही था। वह चिल्ला पड़ा, "कब आएगा सही समय?"

उसे समझाया गया कि उन्हें 31 मई की तारीख दी गई है, उस दिन सारे भारत में एक–साथ क्रांति होगी। एक ही झटके में सभी अंग्रेजों को निकाल बाहर किया जाएगा। आंखों ही आंखों में अनेक भाव छिटक रहे थे। उनकी भावनाओं का दर्द उनके व्यवहार में झलक रहा था। दोपहर के भोजन के समय मेस में पर्याप्त गहमा–गहमी होती थी, सिपाही जोर–जोर से बात करते थे, मजाक करते थे और शाम को घूमने की योजना बनाते थे, लेकिन आज मानो उन्हें सांप सूंघ गया था। यह सन्नाटा काफी कुछ व्यक्त करता था।

"हम उनकी नौकरी कर रहे हैं तो क्या हमारा कोई सम्मान नहीं?" एक युवा सिपाही ने कहा।

"हम अपने धर्म को कैसे भ्रष्ट होते देख सकते हैं?" दूसरे सिपाही का स्वर कुछ तेज था।

"चुप हो जाओ!" एक वरिष्ठ सिपाही ने कहा, "अपने गुस्से को शांत नहीं होने देना। बोलोगे तो गुस्सा शांत हो जाएगा।"

इसके बाद एक बार फिर मेस में सन्नाटा छा गया। वातावरण में अभी भी पर्याप्त नमी थी, गरमी अपने शिखर पर थी। उसके बाद सभी सिपाही अपनी बैरकों में चले गए। देशी सिपाहियों की बैरकें छप्पर–खपरैल की छत वाली झोपड़ियों के रूप में थीं जो मेस परिसर में ही स्थित थीं। एक झोपड़ी में तीन या चार सिपाही रहते थे, जबकि हवलदार व ऊपर के रैंक के सिपाहियों को अलग झोपड़ी दी जाती थी। इन झोपड़ियों की तुलना में अंग्रेज सिपाहियों को पक्की बनी बैरकों में ठहराया जाता था जहां सभी तरह की सुविधाएं उपलब्ध होती थीं। अंग्रेज अधिकारियों का तो कहना ही क्या था, उन्हें रहने के लिए सभी सुविधाओं से परिपूर्ण विशाल बंगले दिए जाते थे।

देशी सिपाहियों की 11वीं और तीसरी टुकड़ियां काली पल्टन मंदिर के बहुत निकट ही स्थित थीं, जबकि 20वीं टुकड़ी यहां से कुछ दूर स्थित थी। सदर बाजार भी यहां से पर्याप्त निकट था (है), मात्र 500 मीटर। आज वे तनाव और क्रोध से मिश्रित हृदयों पर नियंत्रण पाने का प्रयत्न कर रहे थे, इसलिए उनमें से अधिकांश शाम को बाजार जाने से बचे, जहां वे अक्सर मटरगश्ती और खरीदारी के लिए जाया करते थे। बाजार में उन्हें व्यापारियों का सम्मान प्राप्त होता था, क्योंकि उनके कारण उनकी आमदनी में वृद्धि होती थी। उन्हें उधार भी मिल जाया करता था। आज कुछ ही सिपाही बाजार गए। उन्हें लगा कि व्यापारी उनकी अनदेखी कर रहे थे व उनसे अच्छी तरह बात नहीं कर रहे थे। पहले वे उन्हें अन्य ग्राहकों की तुलना में प्राथमिकता देते थे, लेकिन आज ऐसा नहीं था।

एक–दो सिपाहियों को उन्हीं दुकानदारों ने उधार देने से मना कर दिया जिनके वे बंधे हुए ग्राहक थे। यह भी कहा जाता है कि जब से चपाती और कमल अभियान अस्तित्व में आए थे, तब से ही दुकानदारों ने अंग्रेजों और सिपाहियों को उधार देना बंद कर दिया था; उनका विश्वास था कि क्रांति का आरंभ अन्यत्र हो चुका था, लेकिन संचार व यातायात के

साधन अंग्रेजों के अधिकार में होने के कारण वे इस बात को जगजाहिर नहीं होने दे रहे थे।

सबकुछ बदला–बदला प्रतीत होता था। ऐसा कहा जाता है कि कुछ देशी सिपाहियों की दुकानदारों और अन्य लोगों से बहस और हाथापाई तक हुई थी, लेकिन किसी प्रमाण के अभाव में इसे स्वीकार करना संभव नहीं, लेकिन जिस प्रकार का वातावरण वहां सृजित हो गया था, उसमें ऐसा होने की पूरी संभावना थी। यह भी कहा जाता है कि इसी प्रकार की घटना सोतीगंज में भी हुई थी जहां एक देशी सिपाही ने एक यूरोपियन की पिटाई तक कर डाली थी।

शाम ढल गई। सिपाही अपनी इकाईयों में लौट गए थे। मंदिर प्रांगड़ में साधु ने घास पर अपना आसन लगा लिया था। आसमान में काले बादल उमड़ रहे थे जिनके कारण दिन कुछ जल्दी ही डूब गया प्रतीत होता था। शाम के प्रवचन का समय था, लेकिन इसका मुख्य विषय वही था जो पिछले कुछ दिनों से हो रहा था और आज जिसका उत्कर्ष भी सामने आया था। उसने कहा कि इससे बड़ा अपमान नहीं हो सकता था।

"बस हमें कुछ दिन और यह सब सहन करना है," एक सिपाही ने कहा।

"और अपमान क्यों सहन करना चाहते हो?" साधु ने सीधा प्रश्न किया।

"आपको पता है, हमें 31 तारीख मिली है।"

"मिली होगी लेकिन क्या तुम तीन सप्ताह और अपमान सहने को तैयार हो? तुम्हारी चुप्पी से अंग्रेज तो अब और भी उत्साहित हो गए होंगे, और अपमान सहने को तैयार रहो," साधु ने कड़ी भाषा का प्रयोग किया।

सभी सिपाही सोच में डूब गए। साधु ने फिर कहा, "31 मई को भी रविवार है और कल भी।"

साधु ने चेतावनी देते हुए कहा कि यदि 31 मई की योजना किसी प्रकार अंग्रेजों को ज्ञात हो गई तो वे उन्हें निःशस्त्र कर देंगे, तब किस साधन से वे क्रांति कर पाएंगे। बात में दम था, उसने सिपाहियों को सोचने पर विवश कर दिया था, लेकिन अभी भी वे उस मानसिक स्तर पर नहीं पहुंचे थे। साधु ने पुरजोर कोशिश की कि वे उसी समय या अगली सुबह क्रांति के लिए तैयार हो जाएं। प्रवचन व संध्या वंदन के बाद प्रसाद बांटते हुए साधु की मुख–मुद्रा से प्रतीत हो रहा था कि वह गहन सोच में था। वहां से जाकर सिपाहियों ने मेस में भोजन किया।

अभी भोजन चल ही रहा था कि बारिश होने लगी। उमस–भरा वातावरण ताजगी से भर गया। सिपाही अपनी बैरकों में चले गए। रात्रि विश्राम की तैयारी हो गई। वे अपने बिस्तरों पर सो रहे थे या करवट बदल रहे थे, कहना कठिन है।

एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या क्रांति के लिए 31 मई की तारीख निश्चित की गई थी? यदि हां तो यह किसने की थी? इस प्रश्न का प्रत्यक्ष साक्ष्य तो प्राप्त नहीं होता, लेकिन अप्रत्यक्ष परिस्थितिजन्य साक्ष्यों की कमी नहीं। जितने विशाल स्तर पर यह क्रांति घटित हुई, उससे आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है कि कोई न कोई योजना अवश्य ही थी जिसके बारे में हम इस पुस्तक में पहले ही पढ़ चुके हैं। हमारा मुख्य पात्र साधु भी इस योजना के अंतर्गत मेरठ में उपस्थित था। हम उसकी पहचान शीघ्र ही उजागर करने वाले हैं।

एक प्रश्न और उठता है – यदि कोई योजना थी तो साधु तुरंत ही क्रांति आरंभ क्यों करना चाहता था? शायद उसे प्रतीत हो रहा था कि उस समय सिपाहियों का क्रोध चरम सीमा पर था और ऐसे अवसर रोज–रोज नहीं आते, तीन सप्ताह के समय में ये भावनाएं वाष्प बनकर उड़ सकती थीं और हो सकता था कि 31 मई को कुछ भी न हो।

इस बात की भी संभावना थी कि वह योजना किसी प्रकार बाहर आ जाए, उस स्थिति में अंग्रेज निश्चित ही सारे प्रबंध सुनिश्चित कर लेते, जबकि वर्तमान में वे अपने घमंड में डूबे प्रतीत हो रहे थे। कोई क्रांति न होने से बेहतर था कि यह हो, थोड़ा अनियोजित ढंग से ही सही। उसकी इस प्रकार की सोच भी पूर्णतः तर्कपूर्ण थी क्योंकि 85 सिपाहियों को दंडित करने की घटना आज ही हुई थी, और क्रोध में होने के बाद भी वे क्रांति के लिए पूरी तरह तैयार नहीं दिख रहे थे।

लोहा पर्याप्त गर्म था, लेकिन चोट मारने के लिए इसे पूरी तरह लाल करने की आवश्यकता थी, साधु यह अच्छी तरह समझ रहा था। सब सिपाहियों के जाने के बाद वह योजना बनाने में मगन था कि इस लोहे को किस प्रकार तैयार करना था। जब उसके मन में एक योजना ने मूर्त रूप ले लिया, उसके चेहरे की गंभीरता गायब हो गई और उसका स्थान उसकी चिरपरिचित मुस्कान ने ले लिया। बारिश हो रही थी, औघड़दानी के निकट ही वह चादर बिछाकर लेट गया, बारिश की फुहार उस पर पड़ रही थी, उसके कोमल स्पर्श के कारण उसे शीघ्र ही नींद आ गई। शायद वह क्रांति का ही स्वप्न देख रहा था।

13

ज्वालामुखी विस्फोट

10 मई 1857, रविवार। अन्य किसी छुट्टी के दिन की भांति अलसाया-सा दिन। आज महान क्रांति होने वाली थी लेकिन वातावरण में ऐसा कहीं कुछ प्रतीत नहीं हो रहा था। शायद भीतर ही भीतर कुछ चल रहा था। इतिहासकार अमित पाठक अपनी पुस्तक *1857 लिविंग हिस्ट्री* में लिखते हैं कि इस दिन अंग्रेजों के घरों में काम करने वाले अनेक भारतीय नौकर काम पर नहीं गए थे। वह यह संभावना भी व्यक्त करते हैं कि शायद कुछ सिपाही रात को ही दिल्ली कूच कर गए थे ताकि वहां अपने साथियों को मेरठ में अगले दिन होने वाली कार्यवाही के बारे में सूचित कर सकें। यह भी कहा जाता है कि कुछ नौकरों ने अंग्रेजों को विद्रोह के बारे में चेतावनी दी थी लेकिन अंग्रेज अपनी शक्ति के बारे में आश्वस्त प्रतीत हो रहे थे।

अपनी बैरकों में भी सिपाही विशेष सक्रिय नहीं थे। कुछ खेल रहे थे, कुछ अभी भी बिस्तरों पर ही लेटे थे। नाश्ते की घंटी बजी तो भी उनमें से कुछ सोने को प्राथमिकता दे रहे थे। रात को वर्षा के कारण मौसम कुछ सुहावना हो उठा था। पिछला दिन बहुत तनाव भरा था लेकिन रात-भर की निद्रा ने उनके तनाव को समाप्त कर दिया लगता था। पिछले दिन शायद ही कोई बाजार गया था, लेकिन कुछ सिपाहियों को खरीदारी करने की आवश्यकता थी, इसलिए दोपहर के भोजन के बाद उन्होंने सदर बाजार जाने का निश्चय किया। यह लगभग सीधा बाजार था जिसका एक छोर बांबे बाजार और दूसरा पुलिस स्ट्रीट में खुलता था। एक पंक्ति की गलियां थोक बाजार और अंदरूनी बाजारों में खुलती थीं तो दूसरी पंक्ति की गलियां बैंकर्स स्ट्रीट की ओर घरों में। इस प्रकार इसमें आने-जाने के अनेक प्रवेश-बिंदु थे।

बैंकर्स स्ट्रीट में स्थित कोतवाली के निकट से उन्होंने गली में से होकर सदर बाजार में प्रवेश किया। उन्होंने देखा कि कोतवाली के मुख्य द्वार के बाहर केंटोनमेंट कार्यालय में काम करने वाले अपनी वर्दी में तलवार सहित खड़े दो चपरासी उन्हें अर्थपूर्ण निगाहों से देख रहे थे। उन्हें यह व्यवहार कुछ असामान्य–सा लगा, लेकिन उन्होंने इस पर अधिक ध्यान नहीं दिया और चलते गए। बाजार में पिछले दिन सिपाहियों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं हुआ था, इसलिए वे अधिक आश्वस्त नहीं थे और जल्दी से आवश्यक खरीदारी कर लौट जाना चाहते थे।

1806 में स्थापित हुए सदर बाजार के दोनों थोक व फुटकर बाजारों में दुकानों व ग्राहकों की संख्या कई गुणा बढ़ चुकी है। उस समय यह पर्याप्त खुला–खुला सा लगता था। छुट्टी होने के कारण बाजार में कुछ अधिक लोग थे, कुछ लोग तो शायद समय व्यतीत करने ही आए थे। पिछले दिन की तल्खी तो उपस्थित नहीं थी या शायद आज सभी अपने काम से काम रखना चाहते थे। बाजार में अच्छी–खासी संख्या में देशी सिपाही व नागरिक थे तो यूरोपियन पुरुष और महिलाएं भी थीं। अचानक वहां कुछ अफवाह उड़ने लगी जिससे सारा क्षेत्र तनावग्रस्त हो गया। इसके बारे में *मेरठ गेजेटियर* लिखता है–

> सायं पांच और छः बजे के मध्य सदर बाजार व 20वीं देशी रेजिमेंट की लाइन्स में शोर उठा कि देशी सिपाहियों के अस्त्र–शस्त्रों पर अधिकार करने यूरोपियन आ रहे हैं।

सायं लगभग पांच बजे बाज़ार में सबकुछ सामान्य दिखाई दे रहा था, तभी एक छोर के निकट कुछ शोर उठा। दुकानदार अचानक ही अपना सामान उठा भीतर रखकर दरवाजे बंद करने लगे। एक दुकानदार ने एक मोटा सोटा (डंडा) उठाकर सामने से गुजर रहे एक अंग्रेज को मार दिया। वह गिरा तो वह दूसरे अंग्रेजों की ओर आक्रामक अंदाज में बढ़ा। उसके बाद तो धड़ाधड़ दुकानें बंद होने लगी। अनेक लोग हाथों में डंडे, बल्लम, कुल्हाड़ी, तलवार और चाकू लेकर अंग्रेजों पर टूट पड़े। देखते–ही–देखते बाजार शोर, चीखों और नारों से गूंज उठा।

उसी समय पुलिस कोतवाली के सिपाही भी अपनी नंगी तलवारों को लेकर बाजार में आ गए और जिस अंग्रेज को देखते, उसे मार डालते। यूरोपियन इस अचानक हुए घटनाक्रम से घबरा गए और जान बचाने के लिए जिधर मुंह हुआ, उधर ही भाग निकले। घरेलु शस्त्रों से लेस नागरिकों

का नेतृत्व पुलिस के चपरासी कर रहे थे, वे लोगों को उकसा रहे थे कि किसी फिरंगी को जिंदा मत जाने दो।

अचानक ऐसा क्या हुआ कि शांत बाजार में हिंसा फैल गई। अप्रमाणित साक्ष्यों के आधार पर, सदर बाजार में हिंसा लगभग इस प्रकार आरंभ हुई। सिपाहियों ने देखा कि काली पल्टन मंदिर का साधु बाजार में एक ओर से प्रविष्ट हुआ। वह एक–एक कर कई दुकानों पर रुका और दुकानदारों से लगभग इस प्रकार वार्तालाप किया।

साधु – लाला, कुछ पता भी है आज क्या होगा?

दुकानदार – क्या होगा आज?

साधु – आज तुम सब मरोगे। सब सिपाही भी मरेंगे। अंग्रेज आ रहे हैं। सब हिंदुस्तानियों के हथियार अपने कब्जे में ले रहे हैं।

इससे पहले कि दुकानदार कुछ और कहता, साधु अगली दुकान की ओर बढ़ जाता और वहां भी कुछ इसी प्रकार का संक्षिप्त वार्तालाप होता।

सदर बाजार में आरंभ हुई हिंसा जंगल की आग के समान पूरे शहर में फैल गई। हर जगह हिंसक घटनाएं हो रही थी। लोग अंग्रेजी चिह्नों को ढूंढ–ढूंढ कर मिटा रहे थे। जिस प्रकार से हिंसा फैलती जा रही थी, उससे प्रतीत हो रहा था कि यह सब किसी योजना के अंतर्गत हुआ था। जॉन विलियम काय अपनी पुस्तक में लिखता है–

> एक अफवाह जंगल में आग की तरह फैल गई कि अंग्रेज सैनिकों को भारतीयों के खिलाफ खुला छोड़ दिया जाएगा और बाजारों को लूट लिया जाएगा।

मेरठ गेजेटियर लिखता है–

> अब तक शहर के नागरिक और आसपास के गांवों के लोग विद्रोह में सम्मिलित हो चुके थे और बेगम पुल से लेकर सदर बाजार तक का पूरा क्षेत्र आग की लपटों में घिरा था। यूरोपियनों को बुरी तरह मारा जा रहा था।

एक अन्य स्थान पर यह लिखता है–

> शहर और बाजार के बुरे चरित्र पहली गोली चलने से पहले ही लाठी, बल्लम व तलवार या अन्य कोई हथियार जो उनके हाथ आया, के साथ एकत्र हो चुके थे, और वे हर गली व बाजार में एकत्र थे, जबकि आसपास की नई बसी बस्तियों के लोग, जिनको वहां बसने दिया गया था, वे भी इसी प्रकार

सशस्त्र होकर घरों से बाहर समूहों में निकल रहे थे उस लूट में हिस्सा बनने जो उन्हें पता था कि जल्दी ही शुरू होने वाली है।

सदर बाजार और आसपास के क्षेत्रों में हिंसा फैलती जा रही थी। बड़ी संख्या में यूरोपियन मारे गए थे। अनेक इमारतें आग की लपटों में घिरी थीं। सभी विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि आरंभिक हिंसा का दौर सदर बाजार में आरंभ हुआ और जिस प्रकार यह हुआ, किसी न किसी योजना का अस्तित्व में होना दर्शाता है, क्योंकि न केवल स्थानीय नागरिक, बल्कि आसपास के गांवों से भी बड़ी संख्या में लोग इस क्रांति में शामिल हो चुके थे। इस योजना का साक्ष्य इस बात से भी मिलता है कि अनेक दुकानदारों ने यूरोपियनों को कुछ दिन पहले से ही उधार देना बंद कर दिया था। ऐसा कहा जाता है कि साधु इस बाजार में अक्सर आया करता था और उसने भी इस बात की भविष्यवाणी की थी कि 1857 में सौ वर्ष पूरे होने पर अंग्रेजों का राज समाप्त हो जाएगा। मेजर जी. डब्ल्यू विलियम्स ने अपनी रिपोर्ट "Narrative of Events" (घटनाओं का विवरण) में कहा है–

> मैंने [आबू] नाले के दक्षिणी भाग और बेगम पुल के पूरे क्षेत्र को खाली पड़ा पाया क्योंकि यहां वह तूफान आया था जिसने भारत को अपनी नींव से हिला दिया, और यहां पर दिखाई देने वाला विनाश अपने शस्त्रों और अनुशासन से शक्तिशाली बने सिपाहियों ने नहीं, बल्कि अनियंत्रित भीड़ ने किया था, और यह भी तब हुआ जब यहां पर विशाल यूरोपियन सैनिक शक्ति उपस्थित थी।

अंग्रेजों ने इस क्रांति को कमतर आंकने के बहुत प्रयास किए हैं। उन्होंने प्रयास किया है कि इसे मात्र सिपाहियों के विद्रोह के रूप में दिखाया जाए, इसमें आमलोगों की सहभागिता को अनदेखा किया जाए, लेकिन उक्त घटना प्रमाण है कि यह क्रांति सिपाहियों द्वारा आरंभ न होकर आम नागरिकों द्वारा आरंभ हुई थी। यह बात और है कि अब सिपाही इसमें बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने वाले थे।

वास्तव में, जब पिछली रात साधु ने देखा कि सिपाही क्रांति करने के लिए तैयार नहीं थे तो उसने ऐसी योजना बनाई जिससे सिपाही उठ खड़े होने को उद्यत हो जाएं। इसीलिए उसने पहले नागरिकों को भड़काया, हथियारबंद लोगों का बाजार में जमावड़ा किया और उस समय उपद्रव शुरु कराया जब कुछ सिपाही बाजार में उपस्थित थे।

14

सिपाहियों द्वारा क्रांति

सदर बाजार में जिस समय आम नागरिक अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़े हुए, उस समय वहां कुछ देशी सिपाही भी उपस्थित थे। उन्होंने भी सुना कि अंग्रेज उन्हें निःशस्त्र करने आ रहे हैं। उनमें से कुछ ने साधु को भी बाजार में देखा था। किसी भी सैनिक का पहला प्यार उसका हथियार होता है। कार्यवाही का समय आ चुका था। बस, वे तुरंत ही अपनी बैरकों की ओर तीव्र कदमों से चल दिए, उनमें से कुछ तो दौड़ ही रहे थे। उनकी आंखों में प्रश्नवाचक चिह्न न होकर कुछ कर गुजरने का दृढ़ संकल्प स्पष्ट रूप से झलक रहा था। इतिहासकार सुरेंद्रनाथ सेन, अपनी पुस्तक *Eighteen Fifty-Seven* (अट्ठारह सौ सत्तावन) में लिखते हैं–

> पांच बजे के बाद तूफान अचानक भभक पड़ा। एक रसोईया इस समाचार के साथ सिपाहियों की बैरकों की ओर भागा कि तोपखाना और [यूरोपियन] राइफल्स उनकी रेजिमेंटों के हथियारों को अपने अधिकार में लेने के लिए आ रहे थे। सिपाही तैयार नहीं थे और घबरा गए। वे अभी वर्दी में और हथियारबंद नहीं थे, वे अपनी बैरकों की ओर भागे लेकिन उन्हें ज्ञात नहीं था कि उन्हें क्या करना चाहिए। जैसा इस तरह की विपत्ति में होता है, स्वरक्षा की भावना ने स्वयं को व्यक्त किया।

अपनी–अपनी इकाईयों में पहुंचने के बाद उन्होंने शोर मचाकर दूसरे सिपाहियों को एकत्र किया और बताया कि क्रांति का समय आ चुका है, अंग्रेज उन्हें निःशस्त्र करने आ रहे हैं। कल रात को साधु ने भी क्रांति आरंभ करने का संकेत दिया था। बस, मिनटों में ही सभी सिपाही एकत्र हो गए, पहले सीधा शस्त्रालय गए, वहां के प्रहरी ने जब उनकी बात सुनी

तो उसने उन्हें हथियार निकालने की छूट दे दी। कोई हिसाब नहीं रखा गया, जिसकी जितनी इच्छा थी, उतनी गोलियां अपनी सभी जेबों में भर लीं। किसी एक ने जयघोष किया, और उसके बाद तो 'हर–हर महादेव' और 'अल्लाह–हू–अकबर' के नारों ने आकाश को भेद दिया। उनमें से बहुत–से सिपाहियों ने अपनी बैरकों में जाकर वरदी ही पहन ली, वे इसे पहनने के अभ्यस्त हो चुके थे, लेकिन इस पर लगे अंग्रेजी बिल्लों को उखाड़ना नहीं भूले। *The Sepoy Revolt* (सिपाही विद्रोह) का लेखक हेनरी मीड लिखता है–

> यूरोपियन सैनिकों से उनकी [देशी सिपाहियों की] कोई तुलना नहीं थी, संख्या के अनुसार कहें तो उन्हें कभी नहीं सिखाया गया था कि एक गोरे के सामने उनके दो होने पर भी वे विजेता हो सकते थे। स्टेशन में यूरोपियन घुड़सवार तोपखाने की दो इकाईयों के साथ–साथ उनके पास तोपखाना भी था, जबकि उनके पास कोई तोपें नहीं थीं। ड्रागून कुछ देशी घुड़सवार रेजिमेंटों को आसानी से कुचल सकती थी, और 60वीं राइफल्स 2000 देशी सिपाहियों के लिए काफी थी। इस प्रकार के तीव्र विनाश की संभावना के सामने भी उन्होंने रविवार सांय 6 बजे उठ खड़े होते हुए विद्रोह व हत्या का पहला उदाहरण स्थापित कर दिया।

काली पल्टन मंदिर के अत्यंत निकट स्थित 20वीं देशी रेजिमेंट में भी लगभग कुछ इसी प्रकार का दृश्य चल रहा था। इस स्थान पर आज रेसकोर्स स्थित है। सब सिपाही मेस के निकट मैदान में एकत्र होकर जयघोष कर रहे थे, और वरिष्ठ सिपाहियों के नेतृत्व में उन्होंने इकाई से बाहर निकलने की योजना बनाई। अभी वे गेट तक पहुंचने ही वाले थे कि उनका कमान अधिकारी कर्नल जॉन फिनिस घोड़े पर सवार होकर आ गया। उसे समाचार मिला था कि उसकी रेजिमेंट में कुछ असामान्य चल रहा था। कहते हैं वह एक प्रभावशाली व सक्षम अधिकारी था। उसने सिपाहियों को रुकने को कहा और पूछा कि मामला क्या था। अपने अनुशासन के कारण सिपाही किंकर्तव्यविमूढ़ रह गए। वे एक–दूसरे को प्रश्नवाचक निगाहों से देख रहे थे।

उसी समय तीसरी अश्वारोही रेजिमेंट के सिपाहियों ने 20वीं रेजिमेंट के फाटक से प्रवेश किया। वे अपने घोड़ों पर सवार थे। कर्नल फिनिस ने

उन्हें भी शांत होने का आदेश दिया, लेकिन ये सिपाही तो जोश से लबालब थे। अपने कमान अधिकारी को देशी सिपाहियों से घिरे देखकर कुछ और यूरोपियन अश्वारोही सैनिक आ पहुंचे। उनमें से एक चिल्लाया–"सब अपनी बैरकों में वापस जाओ। यहां क्या कर रहे हो? यह क्या पागलपन है?"

बस, तभी एक गोली चली, यह गोली शायद तीसरी अश्वारोही रेजिमेंट के किसी सिपाही ने चलाई थी। गोली की आवाज के साथ ही कर्नल फिनिस घोड़े से नीचे आ गिरा। इस पर यूरोपियन सैनिक कार्यवाही करने के लिए अपने हथियार सीधे कर भी नहीं पाए थे कि और गोलियां चलीं और उनमें से दो और अपने घोड़ों से नीचे आ गिरे। शेष ने भागने की कोशिश की लेकिन उनका भी वही हाल हुआ।

इसी के साथ सभी देशी सिपाही क्रांति में न केवल सम्मिलित हो चुके थे, बल्कि इसकी ज्वाला में शत्रु के जीवन की पहली आहुति भी डाल चुके थे।

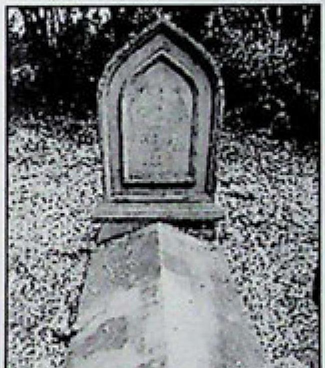

चित्रः सेंट जॉन्स सीमेट्री में कर्नल जॉन फिनिस की कब्र।

देशी सिपाहियों ने वहां से आबू नाले के उत्तर में स्थित यूरोपियन क्षेत्र की ओर रुख किया। कुछ सिपाहियों की दृष्टि सामने ही चार्ल्स डाउसन के बंगले पर पड़ी (इस स्थान पर आज रैम कैंटीन स्थित है)। वह वरिष्ठ पशु चिकित्सक था। सिपाहियों का अनुमान था कि वह अपनी पत्नी के साथ उस समय बंगले में ही था क्योंकि वह शायद चिकन पॉक्स से पीड़ित था, इसलिए रविवार होने के बाद भी उसका चर्च जाना संभव न था।

जैसे ही सिपाही बंगले के फाटक से भीतर प्रविष्ट हुए, उन्होंने डाउसन को सामने बरामदे में अपनी पिस्तौल लिए खड़ा पाया। उसने शायद गोलियों की आवाज सुन ली थी, इसलिए वह सावधान हो गया था। नारे लगाते सिपाहियों को देखकर उसे सारी वस्तुस्थिति समझ आ गई और उसने सिपाहियों की ओर पहली गोली दाग दी, बस और नहीं दाग पाया। सिपाहियों ने द्रुत गति से कार्यवाही करते हुए बंगले की फूस वाली छत पर मशालें फेंक दीं, और मिनटों में सारा बंगला आग की लपटों से घिर गया।

डाउसन बंगले के भीतर भागा। शायद दोनों पति–पत्नी की जलकर मृत्यु हो गई, लेकिन उनके शव बरामद नहीं हुए थे। यह तथ्य सेंट जॉन्स सीमेट्री (कब्रगाह) के अभिलेख में उल्लिखित है।

कहा जाता है कि इस समय तक 11वीं पैदल रेजिमेंट के सिपाही क्रांति करने के अनिच्छुक थे। जब क्रांतिकारी सिपाही उनकी इकाई के सामने से जयघोष करते हुए गुजरे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि कर्नल फिनिस और डाउसन की मौत हो चुकी है तो वे भी मिनटों में तैयार होकर इस क्रांति को व्यापक रूप प्रदान करने के लिए सम्मिलित हो गए।

घोड़ों पर सवार होने के कारण तीसरी अश्वोरोही रेजिमेंट के सिपाही आसानी से एक स्थान से दूसरे पर जा सकते थे और वे तीव्र गति से अंग्रेजों व उनके बंगलों और चिह्नों को नष्ट करते जा रहे थे। वे इस पूरे विशाल छावनी क्षेत्र में कुछ ही देर में फैल गए थे। उस समय मेरठ छावनी की बाहरी सीमा की लंबाई लगभग 8 कि.मी. थी जिससे इसकी विशालता का अनुमान लगाया जा सकता है। आज यह और अधिक बड़े क्षेत्र में स्थित है।

यूरोप ठंडा क्षेत्र है जबकि भारत में गरमी की अधिकता होती है, विशेषकर मई के माह में प्रचंड गरमी होती है। यही कारण था कि उत्तरी क्षेत्र में स्थित चर्च में होने वाली प्रार्थना का समय सायंकाल कर दिया गया था।

छावनी की स्थापना के साथ ही अंग्रेजों ने अपने लिए अनेक सुविधाएं स्थापित कर ली थीं जिनमें उत्तरी छावनी में 1819 ई. में स्थापित सेंट जॉन्स चर्च (गिरजाघर) और उसके निकट ही सेंट जॉन्स सीमेट्री सम्मिलित थीं। जैसे–जैसे सूरज पश्चिम की ओर अपनी यात्रा पूरा करता जा रहा था, तापमान में कमी आती जा रही थी और इसी के साथ यूरोपियन अधिकारी और उनके परिवार चर्च जाने के लिए तैयार होने लगे थे। अनेक लोग पहले ही मॉल रोड से उतरकर चर्च की ओर जाने वाली सड़क पर पैदल

ही बढ़े जा रहे थे। तभी घोड़ों की थाप सुनाई दी, और फिर मॉल रोड की ओर एक गोली की आवाज, और फिर दूसरी, और फिर तीसरी, और फिर एक के बाद एक गोलियों की आवाज गूंज उठी। इसी के साथ भगदड़ मच गई, शोर–चीख–पुकार के बीच प्रत्येक व्यक्ति अपनी जान बचाने के लिए इधर–उधर दौड़ लगा रहा था। देशी सिपाही फुर्ती से सारे क्षेत्र को अपने अधिकार में लेने लगे। उनका निशाना केवल पुरुष थे, बच्चों और महिलाओं को वे जाने दे रहे थे, केवल एक महिला मारी गई थी जिसने एक घोड़े की नकेल पकड़ ली थी, वह भी घोड़े द्वारा कुचली गई थी।

चित्रः सेंट जॉन्स चर्च जहां बड़ी मात्रा में हिंसा हुई थी।

सिपाहियों का मुख्य निशाना बंगले और कार्यालय थे जिन्हें वे विशेषरूप से आग के हवाले करते जा रहे थे। उन्होंने जहां भी संचार की तारें देखी, उन्हें उखाड़ फेंका। वे सभी प्रकार के अंग्रेजी चिह्नों को मिटा देना चाहते थे।

आश्चर्य की बात थी कि प्रतिकार करने के स्थान पर अंग्रेज भयभीत होकर भाग रहे थे जबकि उनके अधिकार में तोपखाना व ड्रागून थे। उन्होंने उनका प्रयोग केवल वहीं की सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए घेराबंदी कर किया, शेष छावनी को देशी सिपाहियों की दया पर छोड़

दिया। छावनी में उस समय के घटनाक्रम पर टिप्पणी करता हुआ *मेरठ गेजेटियर* लिखता है– ;

> न्यायाधीश की अदालत और तहसीलदार के कार्यालय को तुरंत आग लगा दी गई। सैनिकों, सिपाहियों, पुलिसकर्मियों, बाजार में घूमने वाले लोगों, नौकरों और बंदियों की मिली–जुली भीड़ों ने छावनियों को जला दिया और लूटपाट की, और सामने आने वाले प्रत्येक ईसाई की हत्या कर दी।

उपरोक्त घटना का विवरण एलिसा ग्रेथेड ने अपने विस्तृत लेख “Normal Account of the Opening of the Indian Mutiny at Meerut” (मेरठ में भारतीय विद्रोह के आरंभ का सामान्य विवरण) में दिया है। एलिसा ग्रेथेड का पति एच. ग्रेथेड था जो उस समय मेरठ का कमीश्नर था। इस लेख की मुख्य बातें इस प्रकार हैं। वह लिखती है कि शाम को क्रांति आरंभ हुई। जल्दी ही मारकाट मच गई। अंधेरा भी जल्दी हो गया था। इस अंधेरे का लाभ उठाकर क्रांतिकारी सेना के सिपाही हथियार लूटने लगे। उनके कुछ लोगों का मुख्य निशाना संचार सुविधाएं थीं क्योंकि वे अच्छी तरह जानते थे कि इनके नष्ट होने से अंग्रेज अपने लिए दिल्ली से जल्दी मदद नहीं बुला सकेंगे। कुछ ही देर में परेड ग्राउंड की ओर से धुआं उठने लगा और धमाकों की आवाजें आने लगीं।

एलिसा आगे लिखती है कि उस समय वह सायंकालीन प्रार्थना की तैयारी कर रही थी। धमाकों और शोर को सुनकर नौकरों ने दरवाजे बंद कर दिए। सब ओर अंधेरा था लेकिन आसपास की इमारतें जल उठी थीं जिनसे मामूली प्रकाश भीतर आ रहा था। धीरे–धीरे गोलियों की आवाज और निकट से सुनाई देने लगी। हमें पता चल चुका था कि भारतीय सिपाहियों के साथ–साथ आम नागरिकों ने भी विद्रोह कर दिया था तथा उनका पहला निशाना अंग्रेज और अंग्रेजी चिह्न थे। उसके कमीश्नर पति ने गार्डों को चेतावनी दी और एलिसा के साथ छत पर चला गया। उसके पास हथियार था और वह उनका सामना करने के लिए स्वयं को मानसिक रूप से तैयार कर रहा था।

कुछ ही देर में गार्डों को धक्का देते हुए सिपाही भीतर आ गए। कमीश्नर उन पर गोली चलाना चाहता था लेकिन उसे पता था कि इस तरह से वह सभी सिपाहियों का सामना नहीं कर पाएगा, न ही स्वयं को बचा पाएगा। इसके विपरीत, उसकी स्थिति भी सिपाहियों को ज्ञात हो जाएगी, इसलिए उसने स्वयं को रोका। वह देख सकता था कि बंगले के

फाटक पर स्थित गार्डों ने कोई प्रतिकार नहीं किया था, ऐसे में उसके लिए समस्या और विकट थी।

एलिसा आगे लिखती है कि सौभाग्य से गार्डों को यह ज्ञात नहीं था कि हम घर में थे या नहीं, क्योंकि रविवार शाम को हम निकट स्थित चर्च जाने के लिए पिछले दरवाजे से पैदल चले जाया करते थे। उनका नौकर गुलाब खान विश्वासपात्र था। क्रांतिकारियों को देखकर वह मुख्य फाटक पर गया और कहा कि साहब और मेमसाहब घर पर नहीं हैं, वे गिरजाघर चले गए हैं। इस पर वे घर में तोड़फोड़ कर और इसे आग के हवाले कर चले गए।

वह लिखती है कि अब घर में रुकना सुरक्षित नहीं था क्योंकि गार्ड भी क्रांतिकारियों के साथ मिल चुके थे। वे बहुत देर तक छत पर ही छुपे रहे, जब सब कुछ सुरक्षित लगा तो वे पिछली चारदीवारी को कूदकर उस क्षेत्र की ओर चले गए जहां काफी पेड़ थे। वहीं रातभर छुपकर वे बंगले को धू–धू जलते देखते रहे। वे अपनी जान केवल अपने वफादार नौकर की वजह से ही बचा पाए थे।

एलिसा ने अगले दिन का भी विवरण दिया है। वह लिखती है कि जब अगली सुबह वे छुपते–छुपाते छावनी के सुरक्षित क्षेत्र की ओर जाने लगे तब उन्होंने किसी प्रकार के बवाल को नहीं देखा, सब कुछ शांत लग रहा था। कुछ इमारतें जल रही थीं, सड़कों से शवों को हटाया जा रहा था। बचे हुए परिवारों और अन्य लोगों को यूरोपियन आर्टिलरी के मोर्चाबंद डिपो में रखा गया। अब सब कुछ शांत प्रतीत हो रहा था। उसके शब्दों में–

> 11 मई को पौ फटने से अधिक स्वागतयोग्य और कुछ नहीं था। दिन के प्रकाश ने दिखाया कि विनाश कार्य कितनी संपूर्णता से हुआ था। सभी कुछ नष्ट और उजाड़ था, और हमारा चमकदार, खुशनुमा घर अब एक काला ढेर बन चुका था। दृश्य दुःखद था, लेकिन जीवन के लिए कृतज्ञता ने किसी अन्य पश्चात्ताप के लिए कोई जगह नहीं छोड़ी थी. . . सारी रात हम सभी प्रकार के संचार से कटे हुए थे, और अब हमने जिस हत्याकांड और रक्तपात की कहानी सुनी वह दुःखद थी, और. . .यह पता चला कि वहां क्या घटित हो रहा था उसके पता चलने से पहले सिपाहियों ने टेलीग्राफ की तारों

> को तोड़ दिया था। विद्रोही रात को ही चले गए थे और उनका पीछा करने का कोई औचित्य नहीं था।

यह बताना शायद सही संदर्भ में होगा कि एलिसा के घर पर आक्रमण करने वाले सिपाही 11वीं पैदल रेजिमेंट के थे।

अंग्रेजों को ज्ञात था कि उन्होंने 85 सिपाहियों के साथ अन्याय किया था, यही कारण था कि क्रांति के आरंभ होने का समाचार मिलने पर तीसरी घुड़सवार सेना का कमान अधिकारी लेफ्टिनेंट कर्नल कारमाइकेल स्मिथ इस क्रांति को कुचलने का प्रयास करने के स्थान पर अपनी जान बचाने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर दौड़ लगाता फिर रहा था। उसके बारे में और भी रोचक तथ्य यह है कि 9 मई की शाम को ही उसके पास अफवाह की सूचना आई थी कि उसकी रेजिमेंट के सिपाही विद्रोह की योजना बना रहे थे, तो उसने इसे मजाक ही समझा और टिप्पणी की, "ये काले लोग और विद्रोह, असंभव।"

वह कितना डरा व घबराया हुआ था, उसका पता उसके लेख से लगता है। उसने लिखा है–

> मैं पहले ग्रेथेड के घर गया, क्योंकि वह घर पर नहीं था, मैंने उसके नौकरों को सूचना दी। तब मैं जनरल के घर गया और सुना कि वह अभी–अभी अपनी बग्घी में चला गया है; तो मैं आर्टिलरी परेड गया और देखा कि ब्रिगेडियर पहले से मैदान पर था; और मैं उसके साथ छावनी के दूसरे छोर पर सैनिकों के साथ गया और सारी रात वहीं रहा।

अपनी पुस्तक *Scattered Chapters on the Indian Mutiny* (भारतीय विद्रोह पर बिखरे हुए अध्याय) में स्मिथ के व्यवहार की आलोचना करते हुए ओ'कोलेघन लिखता है–

> मैं कभी यह पता नहीं कर पाया कि उस सारी शाम या रात को कोर का कमान अधिकारी कभी अपनी पोस्ट पर गया, या अपने सिपाहियों के साथ देखा गया, और ऐसा प्रतीत होता है कि कर्नल स्मिथ इतना भाग्यशाली था कि वह यूरोपियन सैनिक आवास की सुरक्षा में जल्दी से शरण ले पाया।

इसी प्रकार स्मिथ के बारे में लिखते हुए अपनी पुस्तक *The Mutiny Outbreak at Meerut in 1857* (1857 में मेरठ में विद्रोह का विप्लव) में

जे.ए.बी. पामर लिखता है कि उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की गई 'जिसके कारण उसका कुछ सम्मान घटा था'।

स्मिथ कोई अकेला अंग्रेज नहीं था जिसे ऐसी अफवाह की रिपोर्ट प्राप्त हुई थी, लेकिन वे अपने घमंड में इतने चूर थे और अपनी शक्ति के बारे में इतने आश्वस्त कि उन्हें नहीं लगता था कि देशी सिपाही कुछ कर भी सकते थे, कम से कम मेरठ में। लेफ्टिनेंट हुज को भी सदर बाजार क्षेत्र में 9 मई की रात को हुई कुछ गतिविधियों का समाचार मिला था, लेकिन वह भी आश्चर्यजनक ढंग से इस पर चुप रहा। यह भी हैरत–अंगेज था कि पिछले दिन 85 सिपाहियों को दंड के बाद सभी सिपाही रोष में दिखाई दिए थे, फिर भी उनकी भावनाओं पर मलहम लगाने का कार्य किसी अधिकारी ने नहीं किया। अफवाहों पर ध्यान न देना उनके लिए भारी पड़ा। वे इस तथ्य को अनदेखा कर गए थे कि जब उन्हें दंड दिया गया था, सभी देशी सिपाही तोपखाने की मार में खड़े किए गए थे, उस समय उनके द्वारा विद्रोह करना केवल जीवन को जानबूझकर बलिदान करने के समान होता।

अंग्रेज अधिकारियों के सबसे मजेदार चरित्र के बारे में बताना भी रोचक होगा। मेजर जनरल विलियम हेविट मेरठ गैरिसन का कमांडर था। लगभग 66–वर्षीय हेविट गोल–मटोल सा था जिसके कारण वह सैनिक अधिकारी कम किसी नाटक का कलाकार अधिक लगता था। वह आराम–पसंद था और इस कारण उसके कनिष्ठ अधिकारी उसे विशेष पसंद नहीं किया करते थे। रविवार का दिन उसका सर्वाधिक पसंदीदा दिन था, इस दिन उसे विशेषरूप से कोई ऐसी बात पसंद नहीं थी जो उसके आराम में खलल डालती हो।

10 मई को उसके पास क्रांति घटित होने की सूचना आ गई थी, लेकिन उसने कहा कि अब अंधेरा हो गया है और उस समय कार्यवाही करने का कोई औचित्य नहीं, इसलिए उसने कार्यवाही को अगले दिन सुबह के लिए टाल दिया। शायद यही कारण था कि 10 मई को देशी सिपाहियों को किसी विरोध का सामना नहीं करना पड़ा था। अपनी अक्षमता को छुपाने के लिए उसने अगले दिन दिल्ली रिपोर्ट भेजी जिसमें उसने लिखा कि जैसे ही उसे विद्रोह की सूचना प्राप्त हुई, सभी यूरोपियन सैनिक अपनी वरदी पहन कर हथियारबंद होकर देशी सिपाहियों से मुकाबले के लिए निकल पड़े। उसने आगे लिखा कि वे पहले परेड ग्राउंड गए लेकिन अंधेरा हो चुका था, उस समय कोई कार्यवाही करना संभव नहीं था, इसलिए वे अपनी

बैरकों और आवासों की सुरक्षा करने के लिए ब्रिगेड में वापस आ गए। जब ब्रिगेडियर विल्सन ने हेविट को सुरक्षा के लिए वापस ब्रिगेड में जाने को कहा तो वह खुश हो उठा। उस पर तंज कसते हुए काय कहता है–

> ऐसी सलाह पाकर हेविट खुश हुआ और उसने सहमति दे दी और सैनिक अपने घर की ओर मुड़ चले।

आप आसानी से जान सकते हैं कि यह रिपोर्ट झूठ का पुलिंदा था। क्रांतिकारियों ने संचार की तारों को छिन्न–भिन्न कर दिया था। मेरठ के टेलीग्राफ का संबंध आगरा से था। जब इस समाचार को देने के लिए टेलीग्राम भेजा जा रहा था तो वह पूरा नहीं हो पाया, क्योंकि उसी समय क्रांतिकारी सिपाहियों ने उसकी तारों को तोड़ दिया था। *मेरठ गेजेटियर* लिखता है–

> आगरा एक टेलीग्राम भेजा गया लेकिन संदेश पूरा होने से पहले ही तारें काटी जा चुकी थी और तब तीव्रगामी संदेश को मुजफ्फरनगर, दिल्ली व बुलंदशहर भेजा गया।

मेजर जी. डब्ल्यू. विलियम्स ने अपनी रिपोर्ट "Narrative of Events" (घटना विवरण) में लिखा है–

> बाकी की छावनी इस प्रकार पूरी तरह जनविहीन थी कि अनेक देशी नागरिकों को विश्वास हो गया था कि प्रत्येक यूरोपियन को समाप्त किया जा चुका है और क्योंकि उनकी शक्ति दिखाई नहीं दे रही थी, उन्हें लगा कि उन्होंने उन पर पूरा नियंत्रण प्राप्त कर लिया था।

मेरठ गेजेटियर भी लिखता है–

> ब्रिटिश सत्ता लगभग इस प्रकार विलुप्त हो गई थी कि यह विश्वास किया जा रहा था कि मेरठ में उपस्थित प्रत्येक अंग्रेज मारा जा चुका है।

शेष बचे यूरोपियनों को भय था कि दिल्ली गए सिपाही तोपखाने के साथ लौटकर आएंगे। उस समय मेरठ में उपस्थित रॉटन ने अपने विवरण में लिखा है–

> सत्यता यह थी कि हमारे सैनिक अधिकारी पंगु हो चुके थे। किसी को पता नहीं था कि क्या करना चाहिए, और उसके अनुसार कुछ भी नहीं किया गया।

सुरेंद्रनाथ सेन लिखते हैं–

> इससे पहले कभी भारत में वीर अंग्रेजों ने स्वयं को इतना असहाय व असुरक्षित महसूस नहीं किया था। अमित्रवत् भीड़ से घिरे हुए थोड़े–से लोग हर चेहरे में विद्रोह और हर जगह धोखा देख पा रहे थे।

ऐसे अनेक अवसर थे जब देशी सिपाहियों ने वरिष्ठ अंग्रेज अधिकारियों और महिलाओं को बचाया था। लेफ्टिनेंट एच. गुग (जो बाद में जनरल भी बना) कहता है कि उसे एक कनिष्ठ देशी अधिकारी आर्टीलरी बैरक में सुरक्षित लेकर गया और उसके बाद वह विद्रोह में सम्मिलित होने के लिए अपनी रेजिमेंट में चला गया। अपने लेख *Old Memories* (पुरानी यादें) में वह इस प्रकार लिखता है–

> मेरी प्रार्थना और मेरे मनाने के बाद भी, मुझे सुरक्षित पहुंचाने के बाद उन्होंने मुझे अंतिम सैल्यूट किया और मुझे छोड़कर यह कहते हुए चले गए कि उनका कर्तव्य है कि वे अपनी रेजिमेंट के साथियों के साथ रहेंगे और वे चाहे मरें या जिएं, वे अपनी रेजिमेंट में वापस जाएंगे। मैंने अपने इस देशी अधिकारी मित्र के बारे में फिर कभी नहीं सुना। हां, मुझे उसका नाम ज्ञात था और हालांकि अवध प्रांत में मैंने उसका घर खोज निकाला था, लेकिन उसका कुछ पता नहीं चला और मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि वह दिल्ली में विद्रोहियों के शिविर में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ।

[illegible]

15
क्रांतिदूत का नेतृत्व

सिपाहियों का उद्देश्य इन अंग्रेजों को मारना नहीं, बल्कि क्रांति को सफल करना था। इसके लिए उन्होंने पग बढ़ा दिए थे और अब ऐसी स्थिति आ पहुंची थी कि उन्हें वापस नहीं खींचा जा सकता था। चर्च और उसके आसपास के क्षेत्र में तबाही मचाने के बाद तीसरी अश्वसेना के सिपाही दक्षिण क्षेत्र के परेड ग्राउंड में एकत्र होने लगे जहां 20वीं रेजिमेंट के सिपाही पहले से ही उपस्थित थे और जयघोष कर रहे थे। जब अश्वारोहियों ने अपनी कार्यवाही के बारे में उन्हें बताया तो जयघोष और भी गुंजायमान हो गया। 11वीं रेजिमेंट के सिपाही सबसे बाद में आ मिले क्योंकि यह स्थान उनकी इकाई से सबसे अधिक दूर था।

मेरठ में क्रांति तो हो चुकी थी और अब तक यह नेतृत्व–विहीन थी। इसे सफल बनाने के लिए सक्षम नेतृत्व की आवश्यकता थी। अंततः साधु ने मेरठ में चिंगारी भड़काने में सफलता प्राप्त कर ली थी। जब उसने पिछले दिन देखा था कि देशी सिपाही इसके लिए पूरी तरह तैयार नहीं थे तो उसने ऐसी परिस्थितियां रच डालीं कि उन्हें अपने हथियार उठाने ही पड़े। अभी तक यह स्थानीय स्तर पर थी और राष्ट्रीय स्तर पर पहुंचाए बिना यह किसी तार्किक परिणाम पर नहीं पहुंच सकती थी। उसके पास उसका भी समाधान था जो पहले से ही उसकी योजना का भाग था।

10 मई 1857 को अज्ञात कारणों से अंग्रेज इन सिपाहियों का प्रतिकार करने में पूरी तरह अक्षम सिद्ध हुए थे, वे किंकर्तव्यविमूढ़ होकर रह गए थे। दूसरी ओर, सिपाहियों को अच्छी तरह ज्ञात था कि अंग्रेज अत्यंत शक्तिशाली थे। संख्या में लगभग बराबर होने के साथ–साथ उनके पास तोपखाना भी था जो उनकी शक्ति को कई गुणा कर देता था। क्रांति करने के बाद इन सिपाहियों के पास और कोई ठोर–ठिकाना भी न था,

उन्हें अपनी बैरकें निश्चित रूप से छोड़ देनी थी, लेकिन अब विकल्प क्या था। जो कुछ वे कर चुके थे, उस पर वापस जाने का कोई अर्थ नहीं था, क्योंकि अंग्रेज देशी सिपाहियों को छोटी–सी गलती की भी बहुत कड़ी सजा दिया करते थे, आज तो उन्होंने सारी सीमाओं को ही लांघ लिया था। इसी बिंदु पर सोच–विचार के लिए वे नाले के दक्षिणी क्षेत्र में एकत्र हो रहे थे। अभी भी जोश की कमी न थी, अभी तक की सफलता ने उन्हें और भी प्रोत्साहित कर दिया था।

पूरे मैदान में नारे गूंज रहे थे – हर हर महादेव, अल्लाह–हो–अकबर, दीन–दीन। एक ही मैदान में होने के बावजूद सभी सिपाही पहले अलग–अलग समूहों में प्रतीत हो रहे थे। फिर मानो गंगा–यमुना–सरस्वती के संगम के समान तीनों रेजिमेंटों के सिपाही एक बड़े समूह में आकार लेने लगे। दोनों हिन्दू–मुसलमान सिपाही जोश से लबालब थे, सौहार्द का शानदार उदाहरण वहां प्रस्तुत हो रहा था। यही वह सांप्रदायिक सौहार्द था जिससे अंग्रेज डरा करते थे और जिसे नष्ट करने का वे अक्सर प्रयास किया करते थे। उनके इस प्रकार के कुप्रयासों के बाद भी हिन्दू–मुसलमान सिपाहियों में आपसी एकता बनी रही और आज यही उनकी शक्ति का स्रोत थी।

आरंभ में तो केवल धार्मिक नारे ही गूंज रहे थे। धीरे–धीरे इन नारों के बीच दूसरे नारे भी गूंजने लगे थे–

'जो करना है कर गुजरो!'

'जो करना है कर गुजरो!'

उनमें से एक समूह अपेक्षाकृत अधिक जोर से नारे लगा रहा था। धीरे–धीरे सभी सिपाही उसी समूह के आसपास एकत्रित हो गए। उन्हें पता भी न चला कि वे सभी एक ही समूह का भाग बन चुके थे। उनकी व्यक्तिगत पहचान गौण हो चुकी थी।

'जो करना है कर गुजरो!'

'जो करना है कर गुजरो!'

उन्हें पता भी न चला कि कब से वह साधु उनके केंद्र में खड़ा नारे लगाने में नेतृत्व कर रहा था। उसके व्यक्तित्व ने मानो सभी पर जादू कर रखा था।

'चलो, चलो!' साधु ने नया नारा आरंभ किया।

'चलो, चलो!' सिपाहियों ने नारे को दोहराया।

'चलो, चलो!'

'चलो, चलो!'

'दिल्ली चलो!

'दिल्ली चलो!'

और इसी के साथ 'दिल्ली चलो' का नारा भारत के इतिहास में पहली बार मेरठ में गूंजा, जिसे आने वाले दिनों में अनेक नेता दोहराएंगे, जिनमें सुभाष चंद्र बोस का नाम हमेशा अग्रणी रहेगा।

साधु ने जाने–अनजाने उनका नेतृत्व संभाल लिया था और बहुत सावधानी से वह उनकी मानसिकता को परिवर्तित कर रहा था। धीरे–धीरे वह उन्हें दिल्ली कूच करने के लिए प्रोत्साहित कर रहा था। इसके बाद भी वह स्वयं को महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं कर रहा था। वह तो सिपाहियों को उनके लक्ष्य की ओर ले जाना चाहता था। क्रांति घटित हो चुकी थी, वह उसे सफल बनाने का प्रयास कर रहा था। इसी के लिए वह अनेक दिनों से कार्य कर रहा था। इस अवसर का लाभ उसे उठाना ही था।

सिपाही साधु को अपने निकट अनेक दिनों से देख रहे थे, उन्हें उसका मंतव्य स्पष्ट होता जा रहा था। वे नारे लगा रहे थे, साथ ही सोच रहे थे कि इस क्रांति का प्रस्फुटन वास्तव में उसके कारण ही हुआ था, वे तो मात्र उपकरण थे, माध्यम थे।

साधु ने अपने आसपास वरिष्ठ सिपाहियों को एकत्र कर लिया था। अब आगे की योजना बनाने का समय था। उनके पास अधिक समय नहीं था। वे तब तक ही सुरक्षित थे जब तक अंग्रेज वस्तुस्थिति का सही आकलन न कर लेते, और यह अधिक से अधिक अगली सुबह तक हो सकता था। मेरठ में वे बिल्कुल सुरक्षित नहीं थे, लेकिन दिल्ली जाना भी खतरे से खाली न था। अंग्रेज किसी न किसी प्रकार दिल्ली तक सूचना पहुंचाने में सक्षम थे। ऐसा होने पर दिल्ली भी उनके लिए सुरक्षित नहीं रहती।

समूह के केंद्र में साधु खड़ा था जिसके चारों ओर वरिष्ठ सिपाही थे, एक–दो कनिष्ठ सिपाही भी जिज्ञासा के कारण कान से कान लगाकर सुन रहे थे। साधु कह रहा था कि अच्छी सेना वह होती है जो शत्रु की शक्ति के अनुसार कार्य करे। सैनिक प्रशिक्षण में भी उन्होंने यही सीखा था। वैसे भी 31 मई को योजित क्रांति के बाद उन्हें दिल्ली जाने के ही निर्देश मिले

थे, इसलिए वहां जाने का निर्णय मिनटों में हो गया। उन्हें विश्वास था कि दिल्ली में तैनात देशी टुकड़ियां उनके साथ आ मिलेंगी। हालांकि मुगल साम्राज्य का लगभग पतन हो गया था, और मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर का प्रभाव दिल्ली में भी न के बराबर था, बाहर की बात तो अलग है। उसके बाद भी उसका अपना महत्त्व था, वह अब भी एक बड़ा प्रतीक था और क्रांति को पूरे देश में फैलाने में कारगर हो सकता था। दिल्ली में अंग्रेजी सेना का जमावड़ा था, लेकिन वह मेरठ में यूरोपियन सेना के समान शक्तिशाली नहीं थी, क्योंकि ईस्ट इंडिया कंपनी की राजधानी अभी भी कलकत्ता ही थी।

बस फैसला हो गया, उसी के साथ फिर नारे गूंजने लगे।

'चलो दिल्ली!'

'चलो दिल्ली!'

'दिल्ली चलो!'

'दिल्ली चलो!'

'चलो, चलो!'

'चलो, चलो!'

निर्णय हुआ था कि 11वीं और 20वीं रेजिमेंट पैदल सेना होने के कारण गांवों के रास्ते दिल्ली की ओर जाएंगी, जबकि तीसरी घुड़सवार रेजिमेंट के पास गति का लाभ होने के कारण वह मुख्य मार्ग को चुनेगी क्योंकि पैदल सेना के रास्ते में हिंडन नदी पर नाव का पुल पड़ता था जिस पर घोड़ों को गुजारना बहुत कठिन होता। घोड़ों के कारण अश्वारोही अधिक लंबा रास्ता आसानी से तय कर सकते थे। यदि मुख्य मार्ग पर उनका टकराव अंग्रेजी सेना से होता तो वे गति का प्रयोग कर उनसे दूर जा सकते थे, जो काम पैदल सेना के लिए कठिन होता।

यह भी निर्णय लिया गया कि जेल में बंद 85 क्रांतिकारी सिपाहियों को मुक्त करवा लिया जाए। उस समय तक उन्हें भली–भांति ज्ञान नहीं था कि दंडित 85 सिपाहियों को किस जेल में रखा गया था क्योंकि अफवाह थी कि इन सिपाहियों को पुरानी जेल में भेज दिया गया था। उस समय मेरठ में दो जेलें थीं – केसरगंज में जिसका प्रयोग मुख्यतया आपराधिक बंदियों के लिए होता था। दूसरी नई जेल थी जो सूरज कुंड के निकट स्थित थी और 1866 में इसे गिराकर विक्टोरिया पार्क बनाया गया, जहां

आज इस क्रांति का स्मारक भी बना हुआ है। अब इस जेल का कोई चिह्न या अवशेष प्राप्त नहीं होता। इसी मैदान में आजकल 1857 की क्रांति और स्वतंत्रता से संबंधित कार्यक्रम होते रहते हैं। यह इसी ऐतिहासिक मैदान में ही था कि नवंबर 1946 का कांग्रेस अधिवेशन हुआ था जिसमें स्वतंत्र भारत के लिए संविधान सभा का प्रस्ताव पारित हुआ था। इस अधिवेशन में गांधीजी के अतिरिक्त सभी महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय नेता सम्मिलित हुए थे।

इन जेलों की स्थिति उनके मार्ग से विपरीत दिशा में थी, इसलिए इन 85 सिपाहियों को मुक्त कराने का उत्तरदायित्व तीसरी घुड़सवार रेजिमेंट को दिया गया, वैसे भी दंडित सिपाही इसी सेना का ही भाग थे। पैदल सेना साधु के नेतृत्व में दिल्ली की ओर चली, जबकि अश्वारोहियों ने अपने घोड़ों का मुख पहले केसरगंज की ओर मोड़ दिया जो वहां से अधिक दूर नहीं था। पुरानी जेल में उन्हें गार्डों से ज्ञात हुआ कि वे सिपाही वहां नहीं रखे गए थे, इस पर उन्होंने नई जेल की ओर रुख किया। उन्हें सावधान रहने की आवश्यकता थी क्योंकि तोपखाना वहां से बहुत निकट था। वे किसी भी समस्या का सामना करने के लिए तैयार थे, लेकिन वैसा कुछ नहीं हुआ जिसका उन्हें भय था। जेल तो मानो जिज्ञासा से भरपूर उनका स्वागत करने को उद्यत थी। वहां तैनात गार्डों ने अभी तक क्रांति में भाग नहीं लिया था। वे अभी तक अपनी ड्यूटी पर थे, लेकिन उन्होंने न केवल आगंतुकों की सहायता की बल्कि इस काम को पूरा करने के बाद उन्हीं के साथ क्रांति में सम्मिलित होने चले गए।

कोठरियों की चाभियां अंग्रेज जेलर के पास थीं जो उस समय वहां नहीं था। परिणामस्वरूप दीवार में चिने हुए सरियों को तोड़कर छेद किए गए जिनसे बंदियों को निकाला गया। एक समस्या अभी भी थी। इन सिपाहियों को बेड़ियां लगी थीं, जिन्हें काटने के लिए लौहारों को बुलाया गया, जिसके कारण कुछ समय अवश्य लगा। अधिक समय लगने के कारण वहां तनाव का भी माहौल था क्योंकि अंग्रेजों का हमला हो सकता था, लेकिन वे तो अभी तक अपने को प्रारंभिक झटके से शायद उभार नहीं पाए थे। काम पूरा करने के बाद ये सभी सिपाही एक घोड़े पर दो–दो सवार होकर अपने शेष साथियों के पास चल दिए। यह बताना उचित होगा कि इन सिपाहियों ने केवल 85 बंदी सिपाहियों को ही मुक्त किया था, अन्य अपराधियों व बंदियों को नहीं, जिन्हें उनके जाने के बाद ग्रामीणों ने हमला कर मुक्त कराया था।

हेनरी जार्ज कीने ने अपनी पुस्तक *Some Account of the Administration of the Indian Districts during the Revolt of the Bengal Army* (बंगाल सेना के विद्रोह के दौरान भारतीय जिलों के प्रशासन का कुछ वर्णन) में लिखा है कि "लगभग मध्यरात्रि को ग्रामीणों ने जेल पर हमला किया, 839 बंदियों को मुक्त किया और इमारत को आग लगा दी।" उसने आगे लिखा है कि इन ग्रामीणों ने देशी सिपाहियों की खाली पड़ी बैरकों में भी लूटपाट की थी और उनमें आग लगा दी थी।

नई जेल से बंदी सिपाहियों को छुड़ाने में दो अंतर्विरोधी विवरण सामने आते हैं। डॉ. ओ'कोलेगन अपनी पुस्तक *Scattered Chapters on the Indian Mutiny* (भारतीय विद्रोह के बिखरे हुए अध्याय) में कहते हैं कि देशी घुड़सवार सिपाहियों के आने से पहले ही बंदी सिपाहियों को गार्डों ने रिहा कर दिया था और दूसरे अपराधियों की भीड़ भी बाहर आ रही थी और आगजनी, लूटपाट और हिंसा में भाग ले रही थी। इसके विपरीत मेरठ के कमीश्नर ने अपनी आधिकारिक रिपोर्ट में कहा है कि सिपाहियों ने कोठरियों को तोड़कर सिपाहियों को आजाद करवा लिया और वहां तैनात 20वीं पैदल रेजिमेंट के गार्ड भी उन्हीं के साथ चले गए, और अश्वारोही सिपाहियों द्वारा किसी अन्य कैदी को नहीं छुड़ाया गया था। वह आगे कहता है कि पुरानी जेल से अवश्य तीन या चार सौ सिपाहियों ने लगभग 720 बंदियों को छुड़ाया था। इसी प्रकार, *मेरठ गेजेटियर* लिखता है–

> इस बीच तीसरी अश्वारोही का एक बड़ा दल तीव्रता से जेल गया और जेल गार्डों या 20वीं पैदल के गार्डों के जरा–भी विरोध के बिना अपने साथियों को छुड़वा लिया। इन सैनिकों द्वारा अन्य किसी बंदी को आजाद नहीं करवाया गया था, न ही उन्होंने यूरोपियन जेलर, उसके परिवार या संपत्ति को कोई क्षति पहुंचाई थी। लगभग मध्यरात्रि को भयहीन ग्रामीणों ने जेल तोड़कर 839 कैदियों को आजाद करवाकर इसे आग लगा दी।

यह आगे कहता है कि इस घटना के लगभग एक घंटे बाद पुरानी जेल से 720 कैदियों को कुछ सिपाहियों ने रिहा करवाया था।

अपने साथियों से मिलने के बाद इन 85 सिपाहियों के बारे में और विवरण प्राप्त नहीं होता। उनके नाम हमें अवश्य ज्ञात हैं लेकिन उनके बारे में इससे अधिक सूचना का नितांत अभाव है। केवल इतना ज्ञात है कि उनमें

से हिन्दू सिपाही अवध क्षेत्र से आते थे जबकि मुसलमान सिपाही पंजाब के उस क्षेत्र से आते थे जो आज हरियाणा की भूमि है। वे उन लाखों देशभक्तों की कतार में शामिल हो चुके थे जिन्होंने देश के लिए अपना सर्वोच्च बलिदान कर दिया था लेकिन हम उनके नाम तक नहीं जानते। भारत का वर्तमान स्वरूप इन्हीं लोगों के लहू से सींच कर विकसित हुआ है।

ऐसा नहीं था कि मेरठ में नियुक्त सभी देशी सिपाहियों ने क्रांति में भाग लिया था। लेफ्टिनेंट मेकेंजी के अधीन सिपाहियों ने क्रांति में भाग नहीं लिया था। तोपखाने में तैनात देशी गोलंदाज सिपाहियों ने भी क्रांति में भाग नहीं लिया था। ट्रेजरी में तैनात सिपाहियों ने इसे सुरक्षित छोड़ने के बाद ही क्रांति में भाग लिया था।

वास्तव में, प्रमाणों के अभाव में अनेक रहस्य सामने आने से रह गए हैं। बहुत कुछ अनुमान के आधार पर है। हमारे नायक साधु का व्यक्तित्व ऐसे ही एक रहस्य में लिपटा रहा है, जिसे हम अब उजागर करने ही वाले हैं।

16
दिल्ली चलो

अंधेरा होने के साथ दिल्ली कूच करने का निर्णय हो चुका था। पैदल टुकड़ियों के सिपाहियों को तुरंत ही मार्च करना था, जबकि तीसरी घुड़सवार रेजिमेंट को जेल से अपने साथियों को छुड़ाने वाले साथियों की प्रतीक्षा करनी थी।

किसी सिपाही ने कहा, "जिसे रास्ता मालूम हो वह आगे आए।"

साधु ने तुरंत कहा, "मैं हूं न, मेरे पीछे आओ।" इसके साथ ही वह लंबे पग भरते हुए आगे चल दिया, और उसके पीछे सिपाही अपने भारी जूतों से ठक–ठक करते चल पड़े। शीघ्र ही वे धूल–भरी पगडंडी पर चल रहे थे जहां आज रोहटा रोड स्थित है। उन्होंने पहली बार ध्यान दिया था कि साधु के हाथ में लालटेन थी जिससे मद्धिम रोशनी हो रही थी। आसमान में चांद अभी निकला नहीं था, हर ओर अंधेरा पसरा था।

एक सिपाही ने साधु के बराबर आते हुए पूछा, "बाबा, आपको किस प्रकार यह मार्ग ज्ञात है?"

"इस मार्ग से मैं अनेक बार गुजरा हूं," साधु ने अपनी गति को बढ़ाते हुए कहा।

"क्यों?" सिपाही की जिज्ञासा अपने शिखर पर थी।

"क्योंकि तुम्हें एक न एक दिन दिल्ली ले जाना था," साधु ने रहस्यमयी मुस्कान के साथ कहा।

साधु द्वारा पैदल सिपाहियों को गांवों के मार्ग से दिल्ली ले जाने की बात अनेक लेखकों ने कही है। आज भी यह मार्ग हरियाली से ढका है जबकि आबादी काफी बढ़ चुकी है और आज पाए जाने वाले अनेक गांव अस्तित्व में ही नहीं थे। इससे सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि

उस समय यह क्षेत्र घने जंगल जैसा रहा होगा। यह आवश्यक था कि सिपाही अपना रास्ता न भटकें क्योंकि उन्हें रात के अंधेरे में अपना मार्ग तय करना था और इस क्षेत्र का उन्हें कोई ज्ञान भी न था। ऐसे समय में साधु उनके लिए आशा की किरण था।

साधु के अभ्यस्त कदमों से व्यक्त भी हो रहा था कि वह इस मार्ग से पहले भी गुजरा होगा। उसे इस बात का अच्छी तरह ज्ञान था कि सिपाही शाम से ही कार्यवाही कर रहे थे, वे थके हुए होंगे और भूखे भी। उनमें से अधिकांश ने दोपहर के भोजन के बाद कुछ नहीं खाया होगा। भूख और थकान भी बलिदान के प्रकार हैं। शीघ्र ही यह काफिला पक्की सड़क को छोड़कर बरनावा की ओर बढ़ गया। यह वही गांव है जहां विश्वास किया जाता है कि कौरवों ने पांडवों को जला डालने के लिए लाक्षाग्रह बनवाया था। इसकी सीमा को छूते हुए साधु के कदम पांचली बुजुर्ग की ओर मुड़ गए। किसको ज्ञात था कि आने वाले दिनों में इस गांव में अंग्रेज ऐसा प्रतिशोध लेंगे कि आत्मा कांप उठेगी। उनकी गति एक–समान थी, कभी पगडंडियों पर, कभी घास में, कभी कच्चे मार्ग पर चलते हुए साधु के कदम कहीं भी नहीं ठिठक रहे थे। मध्यरात्रि आ पहुंची थी। आसमान में चंद्रमा बादलों से अठखेली करता हुआ प्रतीत हो रहा था। जब भी यह अपनी किरणों से मार्ग को कुछ प्रकाशमान करता, सिपाही पेड़ों से बन रहे सिलहटों की वास्तविकता जान पाते। पांचली से जानी बुजुर्ग की ओर जाने वाले मार्ग को पकड़ा ही था कि एक युवक बैलगाड़ी पर बहुत–से आम लिए सिपाहियों को बांटने लगा। पूछने पर उसने बताया कि वह क्रांतिकारियों के लिए इतना तो कर ही सकता था। एक–एक आम से पेट तो भरा नहीं था, लेकिन कुछ ऊर्जा अवश्य ही प्राप्त हुई थी।

सिपाहियों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब बालेनी गांव के लोग पत्तों में रोटी और सब्जी लपेटे उन्हें देने लगे। वे सोच रहे थे कि उनके द्वारा की गई क्रांति का समाचार दूर–दूर तक पहुंच रहा था। इससे उन्हें साहस मिला, उत्साह बढ़ा और निश्चय और भी दृढ़ हो गया। और फिर कुछ भोजन उन्हें बिजरौल में भी मिला। उन्हें सुखद आश्चर्य हुआ कि बालेनी और बिजरौल के मध्य नदी पर स्थित पुल जर्जर अवस्था में था लेकिन ग्रामीण इस रस्सी के पुल की इस समय भी मरम्मत कर रहे थे। आने वाले दिनों में इसी बिजरौल का निवासी शाहमल अंग्रेजों के छक्के छुड़ाने वाला था। इसके बाद वे दौला, टटीरी और कत्था होकर बागपत की ओर बढ़ने लगे। बागपत से खेकड़ा पार कर जब वे लोनी पहुंचे तो

लगभग तीन बजे का समय हो गया था। वे थक चुके थे, लेकिन दिल्ली अब उन्हें पहुंच में लग रही थी, बस आठ मील दूर। खजुरी खास गांव उनका अंतिम पड़ाव था उसके बाद उनके लिए एक चुनौतीपूर्ण व्यवधान मार्ग में और था – यमुना नदी के रूप में।

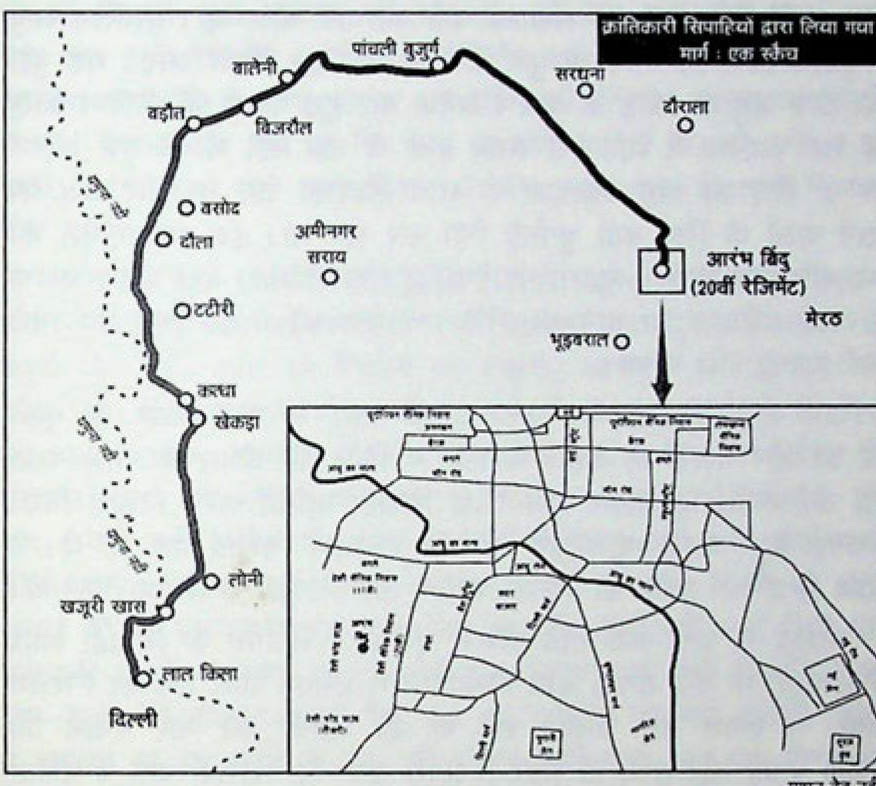

मापन हेतु नहीं

पूर्व दिशा में आकाश लाल हो उठा था मानो उन्हें क्रांति की बधाई दे रहा हो। पानी की खुशबू भी हवा में रच–बस गई प्रतीत होती थी, यह यमुना के निकट होने का संकेत था। सुबह की पहली किरण के साथ सिपाही यमुना नदी के किनारे पहुंच गए। सारी रात पैदल यात्रा की थी, वह भी कच्चे रास्तों पर। जंगलों और खेतों से होकर गुजरे थे, थकान तो स्वाभाविक थी, लेकिन उनके जोश के आगे यह थकान भी मंद थी। सामने स्वच्छ कल–कल करते जल को देखकर सिपाहियों के मन प्रफुल्लित हो उठे। उसके पार लाल किला अपने ऐतिहासिक गौरव के बाद भी कुछ उदास–सा प्रतीत हो रहा था मानो किसी की प्रतीक्षा करते उसकी आंखें

थक गई हों – शायद इन्हीं सिपाहियों की जो उसका उद्धार करने नदी के पार दिखाई देने लगे थे।

साधु ने भी सिपाहियों को जल पीने के लिए कह दिया। उन्होंने न केवल जल पिया बल्कि अधिकांश ने हाथ–पैर भी धोए। एक–दो सिपाही तो नहा ही लिए। जल से लबालब नदी का पाट चौड़ा था। इसलिए साधु ने सुझाव दिया कि नाव के पुल से नदी को पार किया जाए। यह पुल जल और वायु के प्रवाह के कारण अनेक बार टूट जाता था, लेकिन आज यह सही अवस्था में था। इस समय हवा भी चल रही थी जिसके कारण पुल के बीच का भाग जलधारा के साथ लहलहा रहा था और उस पर चलने वालों के लिए बड़ी चुनौती पैदा कर रहा था। इस कारण पुल का मध्य भाग सिपाहियों ने घुटनों पर रेंगते हुए पार किया। इस प्रकार चलना तो उनके प्रशिक्षण का भाग था, लेकिन वे देख रहे थे कि साधु भी उनसे किसी प्रकार कम न था।

जब सभी ने नदी पार कर ली तो साधु ने उन्हें किले के मुख्य द्वार की ओर चलने को कहा। जैसे ही वे किले की दीवार के साथ–साथ मुड़े, उन्हें तीसरी घुड़सवार रेजिमेंट के सिपाही प्रतीक्षा करते दिखाई दिए। वे उनसे बहुत पहले पहुंच चुके थे और सावधान दिखाई पड़ रहे थे। वे संख्या में अधिक प्रतीत हो रहे थे, शायद और सिपाही उनसे आ मिले थे।

वास्तव में, जब मध्य रात्रि तीसरी घुड़सवार रेजिमेंट के सिपाही लाल किला पहुंचे तो वहां तैनात देशी सिपाहियों ने उनका साथ देने का निश्चय किया। न केवल यह, उन्होंने रात को ही अंग्रेजों को मार भगाने की योजना बनाई और तुरंत ही शहर में प्रवेश कर गए, जिसके बाद वे दरिया गंज की ओर गए, और जो भी अंग्रेज उनके मार्ग में आया, यमलोक पहुंच गया। अंग्रेजी चिह्नों को मिटाया गया और उनके अधिकार वाली इमारतों में आग लगा दी गई। कमीश्नर फ्रेजर ने उनका मार्ग रोकने की कोशिश की, लेकिन उसे अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। यही हाल अन्य अंग्रेजों का हुआ। जोशीले सिपाहियों को रोकना असंभव प्रतीत हो रहा था।

मेरठ से चलने से पहले सिपाहियों ने दिल्ली की संचार तारें ध्वस्त कर दी थीं, लेकिन मेरठ का संपर्क आगरा से किसी प्रकार जुड़ा रहा। उसी के माध्यम से मेरठ में हुई क्रांति का समाचार दिल्ली पहुंच चुका था जिसमें संभावना जताई गई थी कि बागी सिपाही शायद दिल्ली जाएं और बहादुरशाह जफर से संपर्क करें। यह संदेश दिल्ली स्थित 54वीं देशी

रेजिमेंट के कमान अधिकारी कर्नल रिप्ले को भी पहुंच चुका था। उसका अनुमान था कि सिपाही बादशाह को अपना नेता बनाने लाल किला आ सकते हैं, इसलिए उसने अपनी रेजिमेंट को लाहौरी गेट के कुछ भीतर मोड़ पर छत्ता चौक में पंक्तिबद्ध तैनात कर दिया था। उसके पास तोपें भी थीं जिनके मुख फाटक की ओर थे। तो क्या युद्ध होने वाला था? क्या एक देशी रेजिमेंट दूसरी देशी रेजिमेंट पर हमला करेगी? तोपों और सुरक्षित मोर्चाबंदी के साथ सामना कर रही 54वीं रेजिमेंट लाभदायक स्थिति में थी। क्या इसका अर्थ था कि मेरठ के क्रातिकारियों के सारे परिश्रम पर पानी फिरने वाला था? प्रश्न विकट थे और उत्तर कुछ ही क्षणों में प्राप्त होने वाला था।

जैसे ही कुछ बागी सिपाही छोटे द्वार से होकर भीतर आए, रिप्ले ने अपने सिपाहियों को सावधान होने का आदेश कह सुनाया। रक्षकों की बंदूकें तन गईं। स्वयं को निशाने पर देखकर आगंतुक सिपाही एक बार चौंक पड़े। वे और साथियों को भीतर आने से रोकना चाहते थे कि रिप्ले का आदेश आया, "फायर!" लेकिन कोई गोली नहीं चली। उसने देखा कि सिपाही पत्थर की मूर्तियों के समान खड़े थे। वह दोबारा चिल्लाया, इस बार अपनी पूरी शक्ति के साथ, "फायर! फायर!" और इस बार पहली गोली चली, बस एक ही गोली चली और इसी के साथ किसी की चीख सुनाई दी जो इसका शिकार हुआ था। वह और कोई नहीं स्वयं रिप्ले था। उखड़ती सांसों के साथ वह पीठ के बल गिरता हुआ देशी सिपाहियों को एक–दूसरे को सैल्यूट करते देख रहा था, अचरज का भाव उसकी आंखों में समाया था जो मरने के बाद भी ओझल नहीं हुआ था। एक रिपोर्ट के अनुसार, रिप्ले ने अपने साथियों को मरते समय कहा था कि उसकी अपनी रेजिमेंट के सिपाहियों ने उस पर संगीन से वार किया था।

किले का मुख्य द्वार खोल दिया गया। सिपाहियों के साथ–साथ अनेक नागरिक भी लाल किले में प्रवेश कर रहे थे। नारों से वातावरण गूंज रहा था। उनका लाल किले पर अधिकार हो चुका था। वे तुरंत ही खास महल की ओर जाने लगे। वे बादशाह से स्वयं मिलना चाहते थे, जिसके निजी रक्षक कैप्टेन डगलस ने उनका मार्ग रोकने की कोशिश की, लेकिन उसे एक ओर धक्का दे दिया गया, जिस पर वह चुपचाप अपनी जान बचाकर निकल गया। तेजी से घट रही इन घटनाओं ने बादशाह को भी आश्चर्यचकित कर दिया था। उसने 31 मई की बात तो सुनी थी, लेकिन

उसमें तो अभी समय शेष था। उसने अपने सलाहकारों से सलाह की और क्रांतिकारियों से मिलने का निर्णय किया।

सिपाहियों ने बादशाह को बताया कि मेरठ में अंग्रेजों को हरा दिया गया था और दिल्ली में भी अंग्रेजों को पीछे हटने को मजबूर कर दिया था। उन्होंने उसे अपना नेता बनाने की इच्छा जताई।

"मैं आपका नेतृत्व करने को तैयार हो भी जाऊं तो मेरे पास आपको वेतन देने के लिए धन नहीं है, मेरा खजाना खाली है," बादशाह ने अपनी विवशता व्यक्त की।

"हम अंग्रेजी खजाने को आपके सामने पेश कर देंगे," सिपाहियों ने कहा।

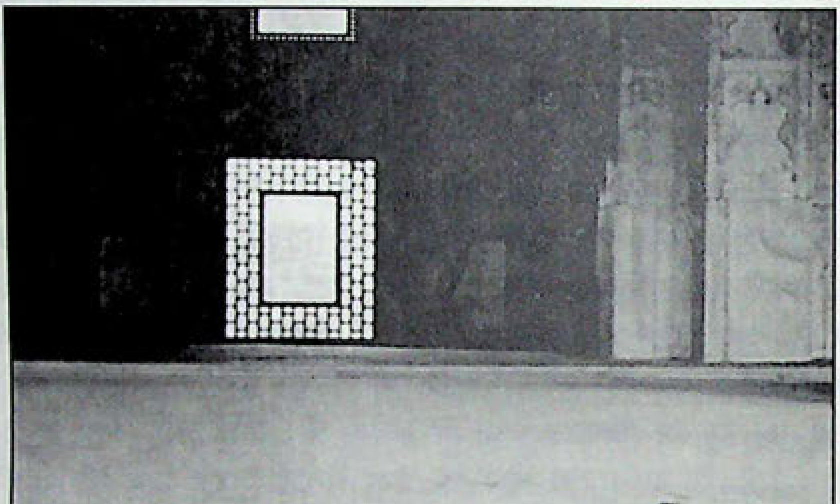

चित्रः दिल्ली के लाल किले के खास महल की जालीदार खिड़की संभवतः जिसके माध्यम से बहादुरशाह जफर ने सिपाहियों से वार्ता की।

इसके प्रत्युत्तर में जफर ने नेतृत्व संभालने की सहमति दे दी। सिपाहियों ने कहा, "हम आपका सम्मान करना चाहते हैं।" वे यह कार्य साधु के हाथों कराना चाहते थे। उन्होंने इधर–उधर देखा लेकिन साधु वहां कहीं न था। उन्हें पता ही नहीं चला था कि साधु कब उनके बीच से गायब हो गया था। शायद उसका उद्देश्य पूरा हो गया था। उन्हें उसका नाम भी न पता था। वे उसे औघड़ बाबा के नाम से ही जानते थे। यह भी नहीं पता था कि वह कहां से आया था और कहां चला गया था। सिपाहियों ने भी इस तथ्य पर माथा–पच्ची करने के स्थान पर क्रांति को फैलाने का निश्चय

किया। वे पूरे भारत में एकछत्र राज चाहते थे, न कि छोटे–छोटे अनेक राज्य। उनके नारों में यह निश्चय अब गूंजने लगा था – 'हिन्दुस्तान के बादशाह सूबेदार सिपाही बहादुर की जय!'

नेतृत्व संभालते ही जफर सक्रिय हो गया था। उसने अपने संदेशवाहकों को किले के निकटस्थ तोपखाने में भेजकर आत्मसमर्पण के लिए कहा। काय कहता है–

> . . .रक्षकों के पास बादशाह के नाम से आदेश आया। महल से बार–बार संदेशवाहक आए कि बादशाह ने फाटक खोलने और रसद को सेना को देने का आदेश दे दिया है।

सिपाही लाल किले से बाहर आए। उनकी संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही थी। 38वीं देशी रेजिमेंट और 54वीं देशी रेजिमेंट भी उनसे आकर मिल चुकी थीं। अंग्रेजों के हाथ से दिल्ली भी निकल चुकी थी। और यह सब हुआ था मात्र कुछ घंटों में। अभी तोपखानों को अधिकार में करना शेष था। एक तोपखाना निकट ही स्थित था, सिपाही योजना बनाकर उसी ओर बढ़ गए थे। कुछ देर बाद ही बड़े धमाके के साथ तोपखाना उड़ गया।

साधु को वे भूल गए प्रतीत होते थे, उसे याद करने का उनके पास शायद अभी समय नहीं था; लेकिन अब वह अवसर आ चुका है जब हमें आपका परिचय उस साधु से कराना चाहिए।

17

क्रांतिदूत का परिचय

कौन था यह क्रांतिदूत जिसे हमने अभी तक साधु कहकर पुकारा है, जिसने इतनी विशाल क्रांति का सूत्रपात किया जिसमें लाखों जीवन बलिदान हुए, जिसने अपराजेय समझे जाने वाले अंग्रेजों को किसी भयभीत मेमने के समान भागने को मजबूर कर दिया, जिसने ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन का अंत कर दिया? उस साधु का नाम सुनकर आप दांतो–तले अंगुली दबा लेंगे, आश्चर्य से शून्य में देखने लगेंगे, क्योंकि वह था ही इतना महान व्यक्तित्व। यदि भारत देश के सर्वकालिक दस महानतम व्यक्तियों की सूची बनाई जाए तो उनमें उसका नाम अवश्य ही होगा।

वह साधु और कोई नहीं स्वयं दयानंद थे – महर्षि दयानंद सरस्वती।

यदि आपको हमारे दावे पर संदेह हो रहा है तो आगे पढ़िए।

यदि उन सभी इतिहासकारों और अन्य विद्वानों का अध्ययन किया जाए जिन्होंने 1857 की क्रांति पर काम किया है तो उन्हें दो समूहों में विभाजित किया जा सकता है – पहले वे जो 1857 की क्रांति में दयानंद की किसी भी भूमिका को नकारते हैं, और दूसरे वे जो उनकी भूमिका को सिद्ध करने के लिए अनेक बार अतार्किक बिंदुओं को उठाते हैं। यदि इन दो विरोधी विचारधाराओं की विवेचना की जाए तो अनेक रोचक तथ्य सामने आते हैं।

स्वामी दयानंद की 1857 क्रांति में भूमिका के बारे में शोध करने के लिए हम अनेक स्थानों पर गए, अनेक इतिहासकारों और विद्वानों से भेंट की और अनेक पुस्तकों का संदर्भ भी लिया। उन्हीं के आधार पर तार्किक विश्लेषण करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं।

पहले हम उनके तर्कों पर विचार करते हैं जो क्रांति में दयानंद के किसी प्रकार के योगदान को नकारते हैं। इसके समर्थन में वे एक ही बात

कहते हैं कि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर दयानंद की किसी भूमिका का समर्थन किया जा सके। इन इतिहासकारों में से अधिकांशतः ने इस पक्ष में कोई शोध आदि नहीं किया है और इस विषय पर कोई भी टिप्पणी करने से बचते रहे हैं। और तो और, ऐसा कहने वालों में से अधिकांश ने उनकी जीवनी भी नहीं पढ़ी है जो बहुत ही संक्षिप्त है। बहुत कम इतिहासकारों ने ही उनकी किसी प्रकार की भूमिका का स्पष्ट खंडन किया है जैसे बी.के. सिंह ने अपनी पुस्तक *स्वामी दयानंद* में। वह लिखते हैं–

> 1857 के विद्रोह को विफल होते उन्होंने [स्वामी दयानंद ने] अपनी आंखों से देखा था, वह अच्छी तरह जानते थे कि स्वाधीनता तब तक नहीं मिल सकती जब तक कि भारतीय समाज का कायाकल्प न हो। और यह काम तो साल–दो साल में होने का था नहीं। इसके लिए एक दीर्घकालीन और सचेतन प्रयास की आवश्यकता थी जिसमें समाज के सभी अंगों को अपना–अपना योगदान करना था। यह कहना अविवेकपूर्ण है कि स्वामी दयानंद का 1857 के विद्रोह में किसी प्रकार का भी हिस्सा रहा था। कुछ लोग फिर भी कहते हैं कि 1857 के विद्रोह में उनका विशेष योगदान रहा था। इस मत के समर्थन में कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं है। न ही कोई तथ्य ऐसा है जो इस बात का संकेत भी देता हो। वे इन दिनों 'सत्य' की खोज में लगे थे।

बी.के. सिंह के अपने उपरोक्त कथन के आधार पर ही उनकी बात को काटा जा सकता है, क्योंकि पहले वह कहते हैं कि 1857 के विद्रोह को विफल होते उन्होंने अपनी आंखों से देखा था। यदि वह इन दिनों नर्मदा के उद्गम के निकट घने जंगलों में सत्य की खोज में लगे थे तो वह क्रांति को विफल होते किस प्रकार देख सकते थे। अनेक ऐसे तथ्य और साक्ष्य हैं जो 1857 क्रांति में उनकी भूमिका की ओर संकेत देते हैं।

जो विद्वान और इतिहासकार उनकी किसी भी प्रकार की भूमिका को नकारते हैं, उनमें से कुछ उनकी आत्मकथा का संदर्भ देते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि उन्होंने अपनी आत्मकथा को तीन अवसरों पर कहा, जिसमें से एक (पूना कथ्य) का अस्तित्व सभी स्वीकार करते हैं, दूसरी (*दँ थियोसोफिस्ट*) को प्रामाणिक माना जाता है और तीसरी (कलकत्ता कथ्य) को जाली माना जाता है।

स्वामी दयानंद अपने लिए प्रसिद्धि नहीं चाहते थे, यही कारण था कि उन्हें अपने बारे में स्वयं बताने में संकोच होता था। लेकिन उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अनेक लोग उनके पिछले जीवन के बारे में प्रश्न पूछते रहते थे। इस प्रकार के दबाव में आकर उन्होंने पहली बार अपने जीवन के बारे में व्याख्यान पुणे (महाराष्ट्र) में 4 अगस्त 1875 को दिया था जिसमें उन्होंने अपने जन्म से लेकर आर्यसमाज की स्थापना तक का संक्षिप्त विवरण दिया था। यह विवरण तत्कालीन समाचार–पत्रों में प्रकाशित हुआ था। इन्हीं समाचार रिपोर्टों के आधार उनका आत्मकथ्य लिखा गया, लेकिन इसे पूरी तरह प्रामाणिक नहीं माना जाता।

दूसरी बार उन्होंने अपनी जीवनी को *दॅ थियोसोफिस्ट* नामक पत्रिका में वर्ष 1879–80 में छपवाया था जिसे प्रामाणिक व विश्वसनीय माना जाता है। पढ़ने पर आपको ज्ञात होगा कि यह पर्याप्त अस्पष्ट है व घुमा–फिरा कर बात करती है, मुख्य प्रसंग से हट कर बात करती है और तथ्यों को छुपाती है। यह छोटी व महत्त्वहीन घटनाओं और अनिश्चित अवधियों का वर्णन करती है, लेकिन महत्त्वपूर्ण घटनाओं व अवधियों से दूर भागती है। इस प्रकार के उपागम के कुछ विशेष कारण रहे होंगे जिनका विश्लेषण करने का हम प्रयास करेंगे।

उपरोक्त दो अवसरों में से पहले के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है लेकिन बहुत प्रामाणिक नहीं माना जाता, जबकि दूसरे को पूर्णतः प्रामाणिक माना जाता है। कुछ सूत्रों द्वारा कहा जाता है कि इन दो अवसरों के अतिरिक्त, एक और अवसर पर स्वामी दयानंद ने अपना आत्मकथ्य कहा था जब वह 16 दिसंबर 1872 से अगले वर्ष 16 अप्रैल तक चार महीने बंगाल प्रांत में थे। इस प्रवास के दौरान अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने उनसे भेंट की जिनमें ब्रह्म समाज के अग्रणी नेता (महर्षि देबेंद्रनाथ ठाकुर, केशबचंद्र सेन व अन्य), विचारक व समाज सुधारक (जैसे ईश्वरचंद्र विद्यासागर), साहित्यकार (जैसे रमेशचंद्र दत्ता आई.सी.एस.) के अतिरिक्त अन्य अनेक लोग थे। यह भी दावा किया जाता है कि देबेंद्रनाथ ठाकुर, ईश्वरचंद्र विद्यासागर व केशबचंद्र सेन ने कुछ संस्कृत–ज्ञाता लेखकों को दयानंद के उपदेशों, विचारों और वर्णनों को लिखने के लिए नियुक्त किया था क्योंकि उन्हें बंगाली भाषा का ज्ञान नहीं था, जिसके कारण वह संस्कृत में बोला करते थे। यह दावा किया जाता है कि उन्होंने अपनी जीवनकथा को मार्च 1873 में दस दिन तक कह सुनाया था।

इन वर्णनों के अस्तित्व को ही नकार दिया जाता है, न ही किसी को ज्ञात था कि इन लेखों का क्या हुआ, लेकिन इनके अस्तित्व में रहने की अफवाहें उड़ती रहीं। यह कारण था कि दयानंद के जीवनीकार पंडित लेखराम आर्यपथिक ने इन लेखों को खोजने की चेष्टा की, लेकिन विफल रहने पर उन्होंने जीवनी में लिखा कि सन् 1872 में दयानंद को अपनी जीवनगाथा सुनाने को कहा गया था, लेकिन इसका कोई परिणाम नहीं निकला। इस विषय को उन्होंने निम्न शब्दों में वर्णित किया–

> कुछ सम्मानित सज्जनों ने उनके जीवन के विवरण जानने का प्रयास किया, लेकिन वे विफल रहे। दयानंद मित्रतावश विद्वान संन्यासियों को अपने जीवन के कुछ प्रसंग सुना दिया करते थे, लेकिन वह सामान्य ग्रहस्थों के सामने ऐसी चीजें कहने को अर्थहीन समझते थे।

1923 में पंडित दीनबंधु वेदशास्त्री को कलकत्ता प्रवास के दौरान स्वामी दयानंद द्वारा कुछ आत्मकथ्य कहे जाने के बारे में जानकारी मिली जो विभिन्न संस्कृत विद्वानों द्वारा बंगाली में अनुवाद किए गए थे जिनमें से कुछ कागज कहीं और कुछ कागज कहीं थे। उन्होंने प्रयास कर उनमें से अनेक कागजों को एकत्र किया और उनका संकलन कर *सार्वदेशिक* पत्रिका में "महर्षि दयानंद सरस्वती की अज्ञात–जीवनी" के नाम से 5 जनवरी 1969–8 नवंबर 1970 के मध्य 66 किश्तों में प्रकाशित करवाए। बाद में, इन्हें "योगी का आत्म–चरित्र" नामक पुस्तक के रूप में स्वामी सच्चिदानंद सरस्वती के प्रयास से प्रकाशित करवाया गया। इस जीवनी को 'कलकत्ता कथ्य' कहा जाता है। इस जीवनी में कहे गए प्रसंग पर्याप्त विस्तार से वर्णित हैं, और इसमें कुछ ऐसे भी हैं जिनपर विश्वास करना कठिन कार्य है, जिसका मुख्य कारण है कि उनके समर्थन में सहायक प्रमाणों का अभाव रहा है और वे उन वर्णनों या कथ्यों के विरोध में हैं जिन्हें अधिक विश्वसनीय माना जाता है।

'कलकत्ता कथ्य' में वर्णित कुछ अविश्वसनीय प्रसंग के उदाहरणों में कुछ ऐसे हैं कि उनका सामना भालुओं, शेरों और सांपों से हुआ लेकिन उन्हें कोई हानि नहीं पहुंची। यह भी सत्य है कि इसमें वर्णित कुछ घटनाओं का वर्णन उन्होंने अन्यत्र स्थानों, उपदेशों या पुस्तकों में भी किया है व कुछ को अन्य प्रमाणों के साथ मिलाकर देखने पर उन पर विश्वास किया जा सकता है। इन सभी तथ्यों को एकसाथ मिलाकर देखने पर यह जीवनी कुछ रहस्यमय, अविश्वसनीय और खंडनीय प्रतीत होती है।

इन्हीं कारणों से इस आत्मकथ्य को अधिकांश विद्वान प्रामाणिक नहीं मानते और इसे 'फर्जी' और 'जालसाजी' तक कहकर वर्णित करते हैं। इसे वास्तविक न मानने के भी अनेक कारण हैं। अन्य दो आत्मकथ्य स्वामी दयानंद के जीवन में ही प्रकाशित हुए थे, जबकि कलकत्ता कथ्य किन्हीं कारणों से प्रकाशित न हो सका। दूसरा, इसमें वर्णित कुछ अविश्वसनीय प्रसंगों को यदि उन्होंने कलकत्ता कथ्य में स्वयं कहा था तो निश्चित ही उसमें छेड़छाड़ हुई है जिसका कारण है कि उन्होंने अपने जीवन में अनेक शत्रु पैदा कर लिए थे जिनके कारण अंततः उनकी मृत्यु भी हुई, जिसका विवरण भी हम आपको इस पुस्तक में देंगे। इस आत्मकथ्य के बारे में यह भी दावा किया गया है कि उन्होंने इसे अपने जीवनकाल में प्रकाशित न करने की शर्त पर कह सुनाया था।

इस प्रकार के दावे पर भी अंगुली उठना स्वाभाविक है, लेकिन यह दावा अतार्किक नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनका क्रांति में योगदान यदि उस समय सामने आ जाता तो उनके लिए यह आफत का परवाना ही होता। अंग्रेजों ने किसी भी ऐसे व्यक्ति को छोड़ा नहीं था जिसके बारे में कुछ भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ज्ञात हुआ था कि उसका 1857 की क्रांति से कुछ लेना–देना था। न केवल यह, यदि किसी गांव का एक व्यक्ति इसमें सम्मिलित पाया जाता तो सारे गांव को ही इसका परिणाम भुगतना पड़ता, जैसा अनेकानेक गांवों में हुआ।

अब हम प्रामाणिक माने जाने वाले आत्मकथ्य की विवेचना करने का प्रयास करेंगे। जैसा हम कह चुके हैं कि यह गोलमोल बातें करता है, जहां कहीं सुविधा होती है, वर्णन को अटपटे ढंग से छुपा जाता है, छोटी–छोटी घटनाओं और अवधियों का वर्णन करता है और महत्त्वपूर्ण घटनाओं और अवधियों पर से परदा नहीं उठाता। यह थियोसोफिकल सोसायटी द्वारा प्रकाशित *दॅ थियोसोफिस्ट* नामक पत्रिका में अंग्रेजी में तीन किश्तों में छपा था, जिसके विभिन्न प्रकार से अनुवाद हुए हैं। इस पुस्तक में जीवनी का केवल वह अंतिम भाग सम्मिलित किया गया है जो उस अवधि से संबंधित है जो हमारा मुख्य विषय है। निम्न अनुवाद मैंने ही किया है, क्योंकि अन्य अनुवादों में मुझे कुछ न कुछ हितार्थ दिखाई दिए थे। कहीं–कहीं [–] के मध्य कुछ अतिरिक्त सूचना दी गई है जो मूल जीवनी का भाग नहीं है लेकिन इससे पाठकों को इसे समझने में मदद मिलेगी।

> . . .ऐसे ही कुछ दिन और गंगा तीर पर विचरने के बाद मैं फर्रुखाबाद पहुंचा। और तब श्रींजीरम [श्रंगीरामपुर] से गुजरकर

> छावनी की पूर्व दिशा वाली सड़क से कानपुर पहुंचने वाला था जब विक्रम संवत् 1912 [5 अप्रैल 1856 को] समाप्त हुआ।
>
> अगले पांच मास मैं कानपुर व इलाहाबाद के मध्य कई स्थानों में गया। भाद्रपद के आरंभ में मैं मिर्जापुर पहुंचा जहां मैं लगभग एक माह विंध्याचल आसूलासजी के मंदिर के निकट ठहरा, और अश्विन के आरंभ में बनारस पहुंचा। वहां [वरुण और गंगा के संगम पर बनी] गुफा में ठहरा जो उस समय भूनंद सरस्वती के अधिकार में थी। वहां मैं काकाराम, राजाराम एवं अन्य शास्त्रियों से मिला। मैं वहां केवल बारह दिन ठहरा। तत्पश्चात् मैं जिस वस्तु की खोज में था उसे प्राप्त करने के लिए आगे चल दिया। चंडालगढ़ [चुनार] में स्थित दुर्गा–कोह [दुर्गाकुंड] मंदिर में मैं केवल दस दिन ही ठहरा। तब मैंने चावल खाने सर्वथा छोड़ दिए और केवल दूध पर निर्वाह करते हुए दिन–रात पूरी तरह से योग विद्या के अध्ययन और अभ्यास में लगा रहा।

आगे बढ़ने से पहले मैं एक टिप्पणी करना चाहूंगा। उपरोक्त अनुच्छेद में मैंने कुछ शब्दों को रेखांकित किया है जिनमें स्वामी दयानंद ने अपने दृढ़ निश्चय को व्यक्त किया है, और वह था व्याकरण व वेदों का अध्ययन करना, जिसके लिए वह योग्य गुरु की खोज में थे। क्या इस लक्ष्य के प्रति दृढ़ निश्चय व्यक्त करने के तुरंत बाद वह गुरु की खोज करने के स्थान पर उस मार्ग से भटक जाएंगे? यदि उनके व्यक्तित्व व चरित्र का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाए तो यह असंभव प्रतीत होता है। कृपया आगे पढ़ें–

> दुर्भाग्य से मुझे भांग का प्रयोग करने की लत लग गई थी जो नशीली पत्ती होती है और कई बार मैंने इसके प्रभाव से पर्याप्त नशा महसूस किया। एक बार मंदिर छोड़कर मैं चंडालगढ़ के निकट एक गांव में पहुंचा जहां मेरी भेंट एक पुराने सेवक से हुई। गांव की दूसरी ओर और कुछ दूरी पर एक शिवालय स्थित था जिसकी दीवारों के मध्य रात गुजारने के लिए चला गया। वहां रहते हुए मैं भांग के नशे के कारण गहरी निद्रा में सो गया और उस रात एक स्वप्न देखा। मेरा विचार है कि मैंने महादेव और उनकी पत्नी पार्वती को देखा। वे आपस में बातें कर रहे थे और उनकी वार्ता का विषय मैं

> स्वयं था। पार्वती महादेव को कह रही थी कि मुझे विवाह कर लेना चाहिए, लेकिन वह इससे सहमत नहीं थे। उन्होंने मेरी भांग की ओर संकेत किया। जागने पर इस स्वप्न ने मुझे बहुत कष्ट दिया। वर्षा हो रही थी और मैंने मंदिर के मुख्य द्वार के दूसरी ओर बरामदे में शरण ली जहां महादेव के वाहन नंदी की विशाल मूर्ति स्थित थी। अपने कपड़ों और पुस्तकों को उसकी पीठ पर रखकर मैंने बैठकर ध्यान लगाया, तब अचानक मेरी दृष्टि मूर्ति के भीतर पड़ी जो खोखली थी। मैंने उसमें एक व्यक्ति को छुपे हुए देखा। मैंने उसकी ओर अपना हाथ बढ़ाया और शायद मैंने उसे डरा दिया था क्योंकि वह अपने छुपने के स्थान से बाहर कूदकर गांव की दिशा में दौड़ पड़ा। तब मैं स्वयं मूर्ति में रेंग गया और शेष रात्रि मैंने वहीं गुजारी। सुबह एक बूढ़ी वहां आई और मेरे नंदी के भीतर रहते हुए उसकी पूजा की। बाद में, वह गुड़ और दही के बर्तन के साथ वापस आई और मेरी पूजा कर मुझे खाने के लिए भेंट की। मैंने उसे अस्वीकार नहीं किया, बल्कि भूखा होने के कारण मैंने सारा कुछ खा लिया। दही बहुत खट्टी थी और भांग का विषहर होने के कारण उसने मेरे नशे के सारे चिह्न मिटा दिए। तब मैंने पहाड़ियों और जहां नर्मदा का उद्गम है, वहां की ओर अपनी यात्रा चालू रखी।

आगे बढ़ने से पहले यह तथ्य दृष्टव्य है कि एक विशेष दिनांक (संवत 1912 का पूरा होना जो 5 अप्रैल 1856 को हुआ) बताने के बाद स्वामी दयानंद कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं बताते, बल्कि अपने वर्णन को जंगल या उसमें होने वाले रोमांचक प्रसंगों तक ही सीमित रखते हैं, मानो वह विश्वास दिलाने का प्रयास कर रहे हों कि वह स्थान वास्तव में नर्मदा के निकट था, जबकि पिछले अनुच्छेद में वह स्वयं को चंडालगढ़ के निकट एक गांव में बताते हैं। ये दोनों स्थान एक–दूसरे से 400 किमी दूर हैं और वह यह भी नहीं बताते कि उन्होंने यह दूरी कब पार की। स्पष्ट रूप से, यह किसी महत्त्वपूर्ण घटनाक्रम को छुपाने का प्रयास है। कृपया आगे पढ़ें–

> मैंने एक बार भी अपना मार्ग नहीं पूछा, बल्कि दक्षिण दिशा की ओर यात्रा करता रहा। शीघ्र ही मैंने स्वयं को एक निर्जन स्थल पर पाया जो सघन वन से घिरा हुआ था जिसमें यहां–वहां अनियमित अंतराल पर कुछ झोपड़ियां आ जाती

थीं। ऐसे ही एक स्थान पर मैंने दूध पिया और आगे बढ़ गया। लेकिन लगभग आधा मील आगे मार्ग पूरी तरह बंद हो गया। मार्ग अचानक ही गायब हो गया था और वहां कुछ संकरी पगडंडियों का विकल्प था जो न जाने कहां जा रही थीं। शीघ्र ही मैंने जंगली फलों व घनी व विशाल घास के सुनसान जंगल में प्रवेश किया जिसमें किसी मार्ग का कोई चिह्न नहीं था, तभी मेरा सामना एक विशालकाय काले भालू से हुआ। वह जानवर अपने पिछले पैरों पर खड़े होते हुए भयानक रूप से गुर्राया। उसने मुझे खाने के लिए अपना मुंह खोला। कुछ देर तक मैं बिना हिले खड़ा रहा और तब अपनी पतली छड़ी ऊपर उठाई, और वह भालू डरकर भाग निकला। इसकी गुर्राहट इतनी जोरदार थी कि वे गांववाले जिन्हें मैं अभी पीछे छोड़कर आया था मेरी सहायता के लिए भागे और अपनी बड़ी लाठियों के साथ जल्दी ही वहां प्रकट हुए, उनके पीछे उनके कुत्ते भी आ गए। उन्होंने मुझे उनके साथ वापस चलने के लिए बहुत मनाने की कोशिश की। उन्होंने बताया कि यदि मैं और आगे गया तो मुझे जंगल में और बड़े संकटों का सामना करना होगा क्योंकि वे पहाड़ियां भालुओं, जंगली भैंसों, हाथियों, चीतों और अन्य भयंकर जानवरों का निवास था। मैंने उन्हें मेरी सुरक्षा के लिए चिंतित न होने के लिए कहा, क्योंकि मैं रक्षित था। मैं नर्मदा का उद्गम देखने को उत्सुक था और किसी संकट के भय से अपना विचार नहीं बदलता। अपनी चेतावनियों को निष्प्रभावी देखकर वे मेरी स्वरक्षा के लिए एक मोटी लाठी देकर मुझे छोड़कर चले गए, जिसे मैंने तुरंत बाद फेंक दिया।

उस दिन पर्याप्त अंधेरा होने तक मैंने बिना रुके यात्रा की। लंबे समय तक मैंने अपने आसपास किसी मानव चिह्न को नहीं देखा था, दूर–दूर तक कोई गांव नहीं था, कोई अकेली झोपड़ी तक नहीं थी, कहीं कोई मनुष्य भी नहीं था। लेकिन जहां मेरी दृष्टि पड़ी वहां बहुत–से पेड़ कुचले हुए और टूटे हुए पड़े थे जिन्हें हाथियों ने उखाड़ कर भूमि पर गिरा दिया था, जिससे पहले से ही कठिन मार्ग अवरुद्ध हो गया था। इसके और आगे मैंने स्वयं को फल के पेड़ों और अन्य कांटेदार

झाड़ियों सहित सघन और अप्रवेश्य वन में देखा। मुझे अपने बचाव का कोई साधन दिखाई न दिया। लेकिन, आंशिक रूप से पेट के बल रेंगते हुए और आंशिक रूप से घुटनों पर चलते हुए मैंने इस नवीन अवरोध को पार किया और अपने वस्त्रों के टुकड़ों और अपनी त्वचा का बलिदान करते हुए मैं रक्त से सनकर थका हुआ वहां से बाहर निकला। उस समय तक पर्याप्त अंधेरा हो चुका था, हालांकि यह एक अवरोध था, लेकिन इसने मेरी प्रगति को बाधित नहीं किया, और मैं तब भी आगे बढ़ता रहा जब तक मैं ऊंची चट्टानों और पहाड़ियों से पूरी तरह घिर नहीं गया जिनपर घनी वनस्पति उग आई थी, लेकिन वहां मानव निवास के चिह्न थे।

शीघ्र ही मैंने कुछ झोपड़ियां देखीं जो गोबर के ढेरों से घिरी हुई थीं और साफ जल के छोटे झरने के तट पर बकरियों का एक झुंड घास चर रहा था, और उनकी दीवारों की दरारों में से स्वागत करता प्रकाश दिखाई दे रहा था। वहां रात गुजारने का निश्चय कर और अगली सुबह तक आगे न जाने का विचार कर मैंने एक विशाल पेड़ के नीचे शरण ली जो एक झोपड़ी को ढक रहा था। अपने रक्त बहते पैरों, चेहरे और हाथों को झरने में धोने के बाद मैं कठिनता से अपनी प्रार्थना के लिए बैठा ही था कि टम–टम की जोरदार ध्वनि ने अचानक मेरे ध्यान में व्यवधान डाल दिया। कुछ देर बाद ही मैंने पुरुषों, स्त्रीयों और बच्चों का एक जुलूस देखा जिनके पीछे–पीछे झोपड़ियों से उनकी गाएं व बकरियां निकल रही थीं और वे किसी रात्रिकालीन धार्मिक समारोह की तैयारी कर रहे थे। एक अनजान व्यक्ति को देखकर वे मेरे चारों ओर एकत्र हो गए, और एक बूढ़ा व्यक्ति आकर पूछने लगा कि मैं कहां से प्रकट हुआ था। मैंने उन्हें बताया कि मैं बनारस से आया था और मैं नर्मदा स्रोत की अपनी तीर्थयात्रा कर रहा था। इस उत्तर के बाद उन्होंने मुझे मेरी प्रार्थना करने के लिए छोड़ दिया और आगे चले गए। लेकिन लगभग आधे घंटे बाद, उनका एक प्रधान दो पर्वतवासियों के साथ आया और मेरे निकट बैठ गया। वह मुझे अपनी झोपड़ियों में आमंत्रित करने के लिए प्रतिनिधि के रूप में आया था। लेकिन पहले

की तरह मैंने उनके प्रस्ताव को मना कर दिया। तब उसने मेरे निकट एक बड़ी आग जलाने का आदेश दिया और सारी रात मेरी सुरक्षा के लिए दो व्यक्तियों को लगा दिया। यह जानकर कि मैं भोजन के लिए दूध का प्रयोग करता हूं, उस उपकारी प्रधान ने मेरा कमंडलु मांगा और इसे दूध से भरकर वापस ले आया, जिसमें से मैंने रात को थोड़ा–सा पी लिया। तब वह मुझे अपने दो प्रहरियों की सुरक्षा में छोड़कर चला गया। उस रात सुबह होने तक मैं गहरी निद्रा में सोया और जागने के बाद अपनी प्रार्थनाएं पूरी करने के बाद मैंने आगे के प्रसंगों के लिए स्वयं को तैयार किया।

इसी वर्णन के साथ ही उनकी आत्मकथा समाप्त हो जाती है। देखने से ही यह आधी–अधूरी प्रतीत होती है। यह आत्मकथा 'जीवन–चरित्र' नाम से प्रसिद्ध है। यदि आप उपरोक्त उद्धरण को ध्यानपूर्वक देखें तो आपके मन में अनेक प्रश्न उठेंगे। ऐसे प्रश्नों का निवारण किए बिना 1857 की क्रांति में स्वामी दयानंद के योगदान के बारे में किसी निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन होगा। उपरोक्त अंतिम दो अनुच्छेद पढ़ने पर आपको अनेक विरोधाभास स्पष्ट प्रतीत होंगे। प्रथम, किसी एक निश्चित तारीख को नर्मदा उद्गम की ओर प्रस्थान को सिद्ध करने के लिए वह महत्त्वहीन विवरण का प्रयोग कर वर्णन को लंबा खींच देते हैं, जैसा अन्य स्थानों पर नहीं है। इसके बावजूद वह किसी भी तथ्य को नहीं बताते जबकि कुछ पंक्तियां पहले ही वह स्वयं को चंडालगढ़ में बताते हैं। द्वितीय, वह नर्मदा स्रोत की ओर प्रस्थान की बात तो करते हैं लेकिन इसका वर्णन कहीं नहीं करते हैं, जबकि वह दावा करते हैं कि वह वहां तीन वर्ष तक योगाभ्यास करते रहे। एक अन्य विरोधाभास के बारे में हम आपको इसी अध्याय में बता चुके हैं कि अपना दृढ़ निश्चय व्यक्त करने के बाद भी वह योगाभ्यास के लिए नर्मदा स्रोत की ओर यात्रा करने लगते हैं, जिसे वह पिछले कई वर्षों से निरंतर करते रहे थे। इस प्रकार के विरोधाभासों के साथ और इस प्रकार के उपागम के साथ, यह स्वाभाविक ही है कि कुछ प्रश्न उठेंगे, जिनका निवारण विस्तार से किए बिना ऐसे किसी निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन होगा कि 1857 क्रांति में उनका क्या योगदान रहा था।

इस जीवनी के और भी पक्ष हैं। दयानंद ने इस आत्मकथ्य को सन् 1879 में थियोसोफिकल सोसायटी के अध्यक्ष कर्नल एच. एस. आलकाट और मैडम एच. पी. ब्लावट्स्की द्वारा उनकी पत्रिका दँ *थियोसोफिस्ट* में

छपवाने के लिए अपने लेखक के माध्यम से लिखवाकर तीन किश्तों में भेजा था। पहली किश्त का प्रकाशन इस पत्रिका के प्रवेशांक (अक्टूबर 1879) के पृष्ठ 9–12 पर 'आर्यप्रकाश' स्तंभ के अंतर्गत हुआ था। इस आत्मकथ्यात्मक लेख का अनुवाद दयानंद ने अपने किसी व्यक्ति (शायद मुंशी समर्थदान) के माध्यम से कराकर भेजा था जो इस पत्रिका में अंग्रेजी में और लेख भी छपवाते थे।

इस आत्मकथ्य की दूसरी किश्त अगले माह के अंक में न छपकर दिसंबर 1879 के अंक में छपी। इन दो किश्तों के छपने के काफी समय बाद ही तीसरी किश्त नवंबर 1880 के अंक में प्रकाशित हुई।

दॅ थियोसोफिस्ट पत्रिका में उनकी जीवनी अनुवाद कर प्रकाशित की गई थी। इसकी गुणवत्ता पर टिप्पणी करते हुए मैक्स मुलर ने कहा है–

> तथाकथित थियोसोफिस्टों द्वारा दयानंद की जीवनी प्रकाशित करना, जिसे पहले मैं सत्य मानता था, अविश्वसनीय हो चुकी है, और शायद ही हम कभी भी इस व्यक्ति की वास्तविक जीवनगाथा को जान पाएं, क्योंकि भारत में जीवनियों का भाग्य भी इतिहास के समान ही है, या तो वे कुछ नहीं बताती अथवा वे जो कुछ बताती हैं उसमें तथ्य और कल्पना इस तरह मिश्रित होते हैं कि एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

इस अंतराल में अन्य घटनाएं भी हुई जिन्हें किसी विश्लेषक के लिए जानना आवश्यक होगा। इस बीच *दॅ थियोसोफिस्ट* पत्रिका में छपने वाली अन्य सामग्री से दयानंद प्रसन्न नहीं थे जो आलकाट और ब्लावट्स्की के बौद्ध और नास्तिक होने को दर्शाती थी, और इसके कारण दोनों संस्थाओं में संबंध–विच्छेद हो गए। इस तीसरी किश्त को शायद दयानंद ने आलकाट को स्वयं दिया था जिस कारण उसका कोई अभिलेख भी नहीं है, और इसी भाग में उनके आत्मकथ्य के साथ छेड़छाड़ की गई, ऐसी संभावना प्रतीत होती है।

जब हम छेड़छाड़ की ओर संकेत करते हैं तो कुछ तथ्य जानने आवश्यक हो जाते हैं। अपने पूरे आत्मकथ्य में दयानंद कहीं भी किसी निश्चित तारीख को नहीं बताते जो उनके बचपन से आरंभ होता है। अपने जन्म का केवल वर्ष बताते हैं संवत् 1881। जब वह घर छोड़ते हैं तो इसे संवत् 1903 बताते हैं। जब वह कुंभ मेले में गए तो इसे संवत् 1911 बताते

हैं। शेष तारीखों को उनके वर्णन से अनुमान लगाकर भी सही प्रकार से नहीं जाना जा सकता। यही कारण है कि उनके जन्मदिन के बारे में भी विद्वानों में मतभेद हैं। अनिश्चित अवधि वह कई बार बताते हैं जैसे वह किसी स्थान पर दो माह रहे और कहीं पर दस दिन। और फिर एक स्थान पर वह निश्चित तारीख बताते हैं कि उस दिन उन्होंने कोई यात्रा प्रारंभ की। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब इस दिन उन्होंने कोई विशेष उपलब्धि प्राप्त नहीं की तब वह इसे क्यों बताना चाहते हैं। इस निश्चित तारीख के बाद उनकी आत्मकथा अटपटे ढंग से समाप्त हो जाती है।

इस अटपटे व्यवधान से संबंधित एक अन्य प्रश्न भी है कि उनके उस उद्देश्य का क्या हुआ जिसके लिए वह स्थान–स्थान भटक रहे थे, जो था एक गुरु की खोज। उन्हें अभी तक गुरु की प्राप्ति नहीं हुई थी, लेकिन वह दावा करते हैं कि वह नर्मदा के उद्गम की ओर योगाभ्यास करने चले गए, और इस कार्य को उन्होंने हरिद्वार कुंभ के लिए प्रस्थान करने से पहले अहमदाबाद और माउंट आबू में 6 वर्ष तक नियमित रूप से करते रहे थे। उन्होंने *दॅ थियोसोफिस्ट* जीवनी में स्पष्ट रूप से कहा है कि वह हरिद्वार में भी योगाभ्यास करते थे। उनके अपने शब्दों में–

> और बाद में, मुझे यह बताया गया कि जिन योगियों से मैं मिला था, उनसे कहीं अधिक श्रेष्ठ और विद्वान योगी थे जो राजपुताना में आबू की पहाड़ियों पर रहा करते थे। तब वहां से मैं अर्वदा भवानी और अन्य पवित्र स्थानों की यात्रा पर दोबारा निकला और अंततः उनसे भवानी गिरी की चोटी पर मिला जिनसे मिलने की मुझे अत्यधिक जिज्ञासा थी, और उनसे योग के अन्य अनेक तंत्रों और माध्यमों को सीखा। संवत् 1911 वह वर्ष था जब मैं हरिद्वार में कुंभ मेले में सम्मिलित हुआ। जब तक मेले में तीर्थयात्रियों का जमघट लगा रहा, मैं चंडी की पहाड़ियों के एकांत में इस विज्ञान का अभ्यास करता रहा। और जब तीर्थयात्री बिखर गए, मैं ऋषिकेश चला गया जहां अनेक बार अच्छे और पवित्र योगियों और संन्यासियों के साथ रहा, और अक्सर अकेला रहा और मैं योग का अध्ययन और अभ्यास करता रहा।

इस घटना के बाद अन्य स्रोतों में 1860 का वर्णन आता है जब वह अपने गुरु स्वामी विरजानंद से मिलने जाते हैं। इस अवधि के बारे में कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं मिलता, कोई प्रमाण नहीं मिलता, कोई साक्ष्य नहीं

मिलता, और यह अवधि और कोई नहीं, वर्ष 1857 से जरा पहले आरंभ होकर 1860 तक की है। यही वह अवधि है जिसमें प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के नाम से प्रसिद्ध 1857 की क्रांति का प्रस्फुटन हुआ जो 1859 तक चली। प्रश्न उठता है कि निश्चय व्यक्त करने के बाद भी वह नर्मदा के वनों में जाकर योगाभ्यास करेंगे या उस गुरु के पास जाएंगे जिनके बारे में उन्हें ज्ञात हो चुका था।

उनकी दूसरी जीवनी को 'पूना कथ्य' के नाम से जाना जाता है जिसे उन्होंने 4 अगस्त 1875 को कह सुनाया था और इसे समाचार–पत्रों की रिपोर्टों के आधार पर लेखबद्ध किया गया था। इसका अस्तित्व सभी विद्वान स्वीकार करते हैं। इसे पढ़ने पर स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि यह भी उतनी ही अस्पष्ट है जितनी *दें थियोसोफिस्ट* में प्रकाशित जीवनी। इसका एक उदाहरण देखते हैं–

> वहां [अहमदाबाद] से मैं हरिद्वार गया। उस समय कुंभ मेला भरा हुआ था। वहां से मैं उस स्थान को गया जहां अलकनंदा का उद्गम है। वहां पूरी तरह बर्फ थी और जल बहुत ठंडा था। जल में किसी वस्तु से मेरा पैर घायल हो गया और रक्त बहने लगा। मेरी इच्छा हुई कि मुझे यहां हिमालय पर अपने प्राण त्याग देने चाहिए। लेकिन तब मुझे एक विचार आया कि केवल ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही शरीर को छोड़ना चाहिए। यह निश्चय कर मैं मथुरा आया। वहां मैं एक संन्यासी से मिला। उस समय वह 81 वर्ष की आयु के थे। उनकी वेदों और अन्य आर्य ग्रंथों में गहन रुचि थी। वह दोनों आंखों से दृष्टिहीन थे और पेट दर्द से पीड़ित थे। वह आधुनिक कौमिदी–शेखर व अन्य पुस्तकों को पसंद नहीं करते थे। वह भागवत जैसे पुराणों की कड़ी आलोचना करते थे। सभी आर्य ग्रंथों के प्रति उनमें गहरा सम्मान था। जब मेरा उनसे परिचय हुआ, उन्होंने बताया कि व्याकरण को तीन वर्षों में सीखा जा सकता है तो मैंने उनके अधीन अध्ययन करने का निर्णय किया। मथुरा में अमरलाल नामक एक सज्जन थे। मैं इस अध्ययन अवधि में उनके द्वारा मुझ पर किए गए उपकार को कभी नहीं भूल सकता। उन्होंने पुस्तकों और भोजन की अच्छी व्यवस्था कर दी। यदि उन्हें कहीं बाहर जाना होता तो जाने से पहले मुझे भोजन करा दिया करते थे। वह वास्तव में एक उपकारी व्यक्ति थे।

> अपना अध्ययन समाप्त करने के बाद, मैं दो वर्षों तक आगरा में रहा, लेकिन मैं स्वामीजी के संपर्क में व्यक्तिगत भेंटों व पत्राचार द्वारा बना रहा ताकि मैं अपने संदेहों का निवारण कर सकूं।

उपरोक्त अनुच्छेद में भी रेखांकित शब्द उनके दृढ़ निश्चय की ओर संकेत करते हैं जबकि *दॅ थियोसोफिस्ट* जीवनी में स्वामी दयानंद गंगा के किनारे अनेक स्थानों पर भ्रमण की बात करते हैं जिसके बाद वह अंततः नर्मदा स्रोत की ओर गए, पूना कथ्य में वह हरिद्वार से लगभग सीधा मथुरा जाने की बात करते हैं, और इस यात्रा में उन्हें एक–दो महीने से अधिक नहीं लगे होंगे जब वह अपने गुरु की शरण में पहुंच गए।

यदि एक बार हम कलकत्ता कथ्य के अस्तित्व को भी स्वीकार कर लें तो हम पाते हैं कि बिल्कुल एक अलग कहानी ही उसमें कही जा रही है जिसमें वह इस अवधि में दक्षिण भारत के अनेक स्थानों की यात्रा की बात कर रहे हैं।

जब तीन जीवनियां हों और वे तीनों भिन्न–भिन्न कहानी कहती हों तो संदेह करने का प्रत्येक कारण बनता है कि वर्णनकर्त्ता एक या दूसरे बहाने से कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य को छुपाना चाहता है। यही कारण है कि 1857 क्रांति में उनके योगदान को सिद्ध करने के लिए परिस्थितिजन्य प्रमाण महत्त्वपूर्ण हो उठते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि वह इस क्रांति में अपनी भूमिका को किसी न किसी प्रकार पर्दे के पीछे रखना चाहते थे ताकि उनके मूल उद्देश्य पर कोई आंच न आए, यही वह उद्देश्य था जिसके लिए उन्होंने कड़ी मेहनत की थी और दूर–दूर तक यात्रा की थी। यदि वह इस क्रांति में अपने कार्य को स्वीकार कर लेते तो अंग्रेज उनके मूल उद्देश्य को किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं होने देते, जो था ज्ञान की प्राप्ति और उसे लोगों तक पहुंचाना। अंग्रेजों को जिस किसी पर संदेह मात्र था कि उसने 1857 के विद्रोह में किसी प्रकार भी सहयोग किया था, उन्होंने उससे कड़ा प्रतिशोध लिया था।

इस भूमिका को स्वीकार करने मात्र से ही दयानंद की अभिलाषा अधूरी रह जाती। क्या इससे नहीं लगता कि वह जानबूझकर इसमें अपनी प्रतिभागिता को छुपाना चाहते थे? उच्चतर लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निम्नतर उद्देश्य की बलि दी जा सकती है, ऐसा विचार उन्होंने स्वयं व्यक्त किया है। इस प्रकार के उदाहरण हमारे इतिहास में भी प्राप्त होते हैं। जब शिवाजी मुगल बादशाह औरंगजेब की कैद से निकल भागे तो वह अपने

पुत्र संभाजी को मथुरा में विश्वासराव नामक एक ब्राह्मण के घर छोड़कर अकेले पुणे की ओर प्रस्थान कर गए। इस ब्राह्मण ने जीवन में कभी असत्य नहीं बोला था और वह इसे घोर पाप समझता था। संदेह के आधार पर मुगल सैनिक इस ब्राह्मण के निवास पर पहुंचे तो उसने नकार दिया कि संभाजी उसके वहां थे और उसे अपना रिश्तेदार बताया। सैनिकों के चले जाने के बाद पत्नी ने उस पाप का कारण पूछा जिससे उसके जीवनभर के सारे पुण्य नष्ट हो गए थे तो उस ब्राह्मण ने कहा कि उच्चतर लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए निम्नतर लक्ष्य का बलिदान दिया जा सकता है और ऐसा असत्य पाप नहीं होता, न ही यह असत्य होता है। वेदों में भी इस प्रकार के अपवाद वर्णित हैं जिनके आधार पर अन्यथा गलत समझे जाने वाले व्यवहार को तार्किक रूप से स्वीकार किया गया है और इसमें मांस–भक्षण भी सम्मिलित है।

लगभग इसी प्रकार की स्थिति स्वामी दयानंद के सामने उपस्थित थी। उनके सामने उच्चतर लक्ष्य था वैदिक ज्ञान को प्राप्त करना, इसके प्रसार से लोगों का विकास करना। उस समय हिन्दू धर्म पर अनेक प्रकार के आघात हो रहे थे, जिनसे वह द्रवित थे। उनकी प्रमुख पुस्तक *सत्यार्थ प्रकाश* ऐसे विवरणों से भरी पड़ी है और वह उसे इन आघातों से बचाना चाहते थे। यही उनके लिए उच्चतर, श्रेष्ठतर लक्ष्य था। उनका आकलन भी था कि बिना जनजागरण संपूर्ण स्वाधीनता प्राप्त नहीं की जा सकती थी और इस कारण वह उस अवस्था में ऐसे किसी स्वाधीनता संग्राम में भाग नहीं लेना चाहते थे; लेकिन एक के बाद एक दो गुरुओं ने जब उन्हें क्रांति में भागीदारी करने को कहा और यही वे गुरु थे जो उन्हें उनके उच्चतर लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायता कर सकते थे, तो उन्होंने अंततः इसमें भाग लेने का मन बना ही लिया और इस क्रांति के विस्फोट में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने की प्रतिज्ञा की।

इस क्रांति में भाग लेने से पहले भी उन्हें अच्छी तरह ज्ञात था कि यह क्रांति सफल नहीं होगी। स्थान–स्थान भ्रमण करने के बाद उन्हें देशी लोगों और अंग्रेजों की शक्ति की तुलना का अच्छी तरह आभास था। उन्हें प्रतीत होता था कि क्रांति आरंभ होने पर भी सफल नहीं हो सकती थी क्योंकि देश की प्रत्येक रियासत के शासक अंग्रेजों से मानो हार माने बैठे थे, और यदि उन सैकड़ों देशी राजाओं में से मुट्ठी–भर राजा अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़े हुए तो भी क्रांति की विफलता सुनिश्चित थी। इस बात का आभास उनकी पुस्तकों में होता है।

यह बात भी निश्चित है कि यदि वह 1857 की क्रांति में अपनी भूमिका को स्वीकार कर लेते तो अंग्रेज उनसे निश्चित रूप से कड़ा प्रतिशोध लेते, और यह केवल उनसे व्यक्तिगत रूप से सीमित नहीं होता, बल्कि उनसे जुड़े सभी लोग इस प्रतिशोध के दायरे में आते, जिनमें आर्यसमाज से जुड़े लोग भी सम्मिलित होते। उनके लिए उच्चतर लक्ष्य था एक ऐसे उन्नतिशील समाज का निर्माण करना जो भारत को स्वाधीनता की ओर ले जा सके, और ऐसा करने से यह उच्चतर लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता था।

सत्यार्थ प्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में स्वामी दयानंद लिखते हैं–

> जब संवत् 1914 के वर्ष में तोपों के मारे मंदिर मूर्तियां अंगरेजों ने उड़ा दी थीं तब मूर्ति कहां गई थीं? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े शत्रुओं को मारा परंतु मूर्ति एक मक्खी की टांग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते। भला यह तो कहो जिसका रक्षक मार खाय उसके शरणागत क्यों न पीटे जाएं?

यह जानना भी रोचक होगा कि उक्त कथन *सत्यार्थ प्रकाश* के प्रथम संस्करण में नहीं था, और द्वितीय संस्करण से पहले स्वामी दयानंद ने स्वयं इसे डाला था। इससे भी स्पष्ट होता है कि वह नहीं मानते थे कि संवत् 1914 (अर्थात् 1857 ई.) में लोग किसी क्रांति के लिए तैयार थे। अपना विद्याध्ययन समाप्त कर वह जनजागरण के कार्य में जुट गए।

एक विशेष बिंदु है कि प्रामाणिक रूप से ज्ञात उनके दोनों आत्मकथ्यों में अनेक घटनाओं का वर्णन है, जैसे सन् 1855 में कुंभ के मेले में उनकी प्रतिभागिता दोनों पुणे व्याख्यान में भी है और *दॅ थियोसोफिस्ट* में भी, लेकिन 1856–60 में उनके जीवन का कोई उल्लेख इन दोनों में ही नहीं होता, और इसी से अनेक प्रकार के संदेह पैदा होते हैं, विशेषकर जब उन जैसे क्रांतिकारी विचारों वाला व्यक्ति अपने युवाकाल में घटित होने वाली अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना से पूरी तरह अनछुआ रहता है जिसका प्रभाव नर्मदा क्षेत्र पर भी हुआ था जहां इस अवधि में रहने का दावा किया गया था।

जहां तक 'कलकत्ता कथ्य' के नाम से ज्ञात 'अज्ञात–जीवनी' का प्रश्न है, इसमें अनेक ऐसे स्थानों का वर्णन भी है जिन्हें स्वामी दयानंद ने अपने प्रामाणिक आत्मकथ्यों में नहीं कहा है, लेकिन उनके व्याख्यानों और पुस्तकों से आभास मिलता है कि वह उन स्थानों पर भी गए। इनके बारे में एक

बात विशेषरूप से विचारणीय है कि इन अवर्णित स्थानों में से अनेक ऐसे हैं जो 1857 की क्रांति से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुए हैं। इस 'अज्ञात–जीवनी' के अनुसार, उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि वह 1857 की क्रांति में सक्रिय थे, लेकिन इस जीवनी को प्रामाणिक नहीं माना जाता, इसलिए आवश्यक हो जाता है कि अतिरिक्त साक्ष्यों की परीक्षा और समीक्षा कर ली जाए। एक उदाहरण द्वारा हम इसे स्पष्ट भी करना चाहेंगे कि जिन स्थानों के बारे में उन्होंने अपने दोनों प्रामाणिक आत्मकथ्यों में कुछ नहीं कहा, वहां भी वह गए थे।

उनके प्रामाणिक आत्मकथ्यों के अनुसार, वह नर्मदा से नीचे दक्षिण की ओर कभी नहीं गए। इस कथन की तुलना उनके *सत्यार्थ प्रकाश* के ग्यारहवें समुल्लास में रामेश्वरम् मंदिर के बारे में किए गए वर्णन से करते है–

> क्योंकि उस मंदिर में भी ['भी' का प्रयोग इसलिए हुआ है क्योंकि उन्होंने इससे पहले पुरी के जगन्नाथ मंदिर का वर्णन किया है] दिन में अंधेरा रहता है। दीपक रात दिन जला करते हैं। जब जल की धारा छोड़ते हैं तब उस जल में बिजली के समान दीपक का प्रतिबिंब चलता है और कुछ भी नहीं। न पाषाण घटे, न बढ़े, जितना का उतना रहता है। ऐसी लीला करके बिचारे निर्बुद्धियों को ठगते हैं।

इस वर्णन को पढ़ने के बाद भी क्या आपको लगता है कि स्वामी दयानंद जीवन में कभी रामेश्वरम् नहीं गए? उन्होंने स्वयं कभी रामेश्वरम् जाने की बात नहीं स्वीकारी, न ही किसी अन्य विद्वान ने जिसने उनकी जीवनी पर कार्य किया हो। उन्होंने ब्लावट्स्की और ऑलकाट से अनेक बार बात की थी, और अनेक अवसरों पर यह वार्तालाप अनौपचारिक भी था। अपने व्यक्तिगत संपर्क के कारण ये दोनों दयानंद के बारे में बहुत कुछ जानते थे और उन दोनों ने उन पर टिप्पणियां की हैं। मैडम एच. पी. ब्लावट्स्की अपनी पुस्तक *The Caves and Jungles of Hindostan* (हिन्दुस्तान की गुफाएं और जंगल) में लिखती हैं–

> एक नगर से दूसरे को भ्रमण करते हुए, आज दक्षिण में, कल उत्तर में, और देश के एक कोने से दूसरे को अविश्वसनीय गति से यात्रा करते हुए, उसने [दयानंद ने] केप केमोरिन से हिमालय और कलकत्ता से बंबई तक पूरा उपमहाद्वीप पार कर लिया है. . .

कर्नल एच. एस. ऑलकाट दँ *थियोसोफिस्ट* पत्रिका के दिसंबर 1883 अंक में लिखते हैं–

> बहुत कम नगर और मात्र एक ऐसा प्रांत है, जो है मद्रास, जिसमें पंडित दयानंद अपने मिशनरी कार्य से नहीं गए, और इस प्रकार के नगरों की संख्या और भी कम है जहां उन्होंने अपने असाधारण मस्तिष्क का प्रभाव न छोड़ा हो।

उपरोक्त कथनों से स्पष्ट है कि वह देश के लगभग प्रत्येक स्थान पर गए थे और उनमें लोगों को गहनता से प्रभावित करने की क्षमता थी।

स्वामी दयानंद की स्वलिखित पुस्तकों और व्याख्यानों में से अनेक ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं जो उनके क्रांतिकारी विचारों के बारे में बताते हैं।

1 नवंबर 1858 को महारानी विक्टोरिया ने आंतरिक शांति के लिए आम माफी की घोषणा की और कहा कि आगे से हम (अंग्रेज) अपने विश्वास को अपने अधीन लोगों पर नहीं थोपेंगे और किसी के साथ उसके धार्मिक विश्वास या पालन के कारण भेदभाव नहीं होगा और सभी को कानून की बराबर और पक्षपातरहित सुरक्षा प्राप्त होगी, और अपने सभी अधिकारियों को कहा कि वे अपने अधीन लोगों के धार्मिक विश्वास या पूजा आदि में किसी प्रकार का व्यवधान न डालें।

इस घोषणा से यह माना गया कि अंग्रेज सरकार भारतवासियों को बराबर का अधिकार देना चाहती है, और इसकी कुछ विद्वानों ने प्रशंसा भी की। लेकिन स्वामी दयानंद ने इसे सही परिप्रेक्ष्य में देखा और अपनी पुस्तक *सत्यार्थ प्रकाश* के आठवें समुल्लास में इस प्रकार कहा–

> अब अभागोदय से और आर्य्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी किंतु आर्य्यावर्त्त में भी आर्य्यों का अखंड, स्वतंत्र, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रांत हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतंत्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे परंतु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत–मतांतर के आग्रहरहित अपने और पराये का पक्षपातशून्य प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।

इस प्रकार स्वामी दयानंद ही थे जिन्होंने सुखपूर्वक विदेशी राज्य की तुलना में 'स्वराज्य' को अधिक महत्ता दी चाहे इसमें घोर कष्ट ही क्यों न हों। लेकिन अपने अनुभव के कारण वह भली–भांति जानते थे कि यहां के लोगों की विविधता अनेक बार एकता में रोड़े अटकाती है, इसलिए उन्होंने आगे लिखा–

> परंतु भिन्न–भिन्न भाषा, प्रथक्–प्रथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। बिना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध करना कठिन है।

यही कारण था कि वह वेदों के पालन को सर्वोच्च प्राथमिकता देते थे। इस कारण जिन भाषाओं (गुजराती और संस्कृत) पर उन्हें अधिकार प्राप्त था, उन्होंने उन्हें अपने द्वारा रचित साहित्य की भाषा न बनाकर हिन्दी को चुना जो भारत के बहुत बड़े क्षेत्र में प्रचलित थी और इसी को माध्यम बनाकर देशवासियों को एकता के सूत्र में पिरोया जा सकता था।

वह किस प्रकार देशवासियों को संगठित करना चाहते थे और उन्हें विदेशी शासन के विरुद्ध पुष्ट बनाना चाहते थे, इस बारे में उनकी पुस्तकों से अनेक उद्धरण दिए जा सकते हैं। *सत्यार्थ प्रकाश* के दसवें समुल्लास के तीन उद्धरण हम यहां प्रस्तुत करना चाहेंगे–

> विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना; विद्या न पढ़ना, पढ़ाना वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषणादि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई–भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।
>
> आपस की फूट से कौरव, पांडव और यादवों का सत्यानाश हो गया सो तो हो गया परंतु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःखसागर में डुबा मारेगा? उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र–हत्यारे, स्वदेशविनाशक, नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चल कर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजयोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय।
>
> जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आके गो आदि पशुओं के मारनेवाले मद्यपानी राज्याधिकारी हुए हैं तब से क्रमशः आर्यों के दुःख की बढ़ती होती जाती है। क्योंकि 'नष्टे मूले

नैव फलं न पुष्पम्।' जब वृक्ष का मूल ही काट दिया जाय तो फल फूल कहां से हो?

स्वामी दयानंद केवल देशवासियों को संगठित होने पर ही जोर नहीं देते, वरन् आवश्यक होने पर युद्ध करने का संदेश भी देते हैं। अपनी पुस्तक *संस्कृतवाक्यप्रबोधः* में वह राजाओं को सलाह देते हैं कि ऐसे समय में युद्ध के बारे में चर्चा करनी चाहिए। उन्हें यह भी अच्छी तरह ज्ञात है कि युद्ध में कुशलता, स्रोतों, संसाधनों और आपूर्ति का क्या महत्त्व है, इसलिए वह कहते हैं–

> और जो पापी हो तो उसके साथ युद्ध करना ही चाहिए . . . वह अन्याय से प्रजा को निरंतर पीड़ा देता है, इस कारण से बड़ा पापी है . . . यदि ऐसा है तो शस्त्र–अस्त्र फेंकने वा चलाने में और युद्ध में कुशल, बड़ी लड़नेवाली, खजाना और अन्नादि सामग्री सहित सेना युद्ध के लिए भेजनी चाहिए।

इस बात को और आगे ले जाते हुए वह *सत्यार्थ प्रकाश* के छठे उल्लास में युद्ध करने की विधि का विस्तृत वर्णन करते हैं। वह युद्ध में गुप्तचरों के महत्त्व, प्रशिक्षण की आवश्यकता, युद्ध में व्यूह–रचना, अस्त्र–शस्त्रों के प्रकार, उन्हें प्रयोग करने की विधि, विभिन्न प्रकार की भूमियों में युद्ध करने की सामरिक नीति और कला और सैनिकों को सही मानसिक अवस्था में रखने के महत्त्व को बताते हैं। जिस प्रकार के उदाहरण वह देते हैं, उनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे केवल वेदों या वैदिक साहित्य से संबंधित न होकर उस समय प्रयोग में आ रहे थे। इस संबंध में दो अत्यंत रोचक उद्धरण दिए जा सकते हैं–

> जो थोड़े पुरुषों से बहुतों के साथ युद्ध करना हो तो मिलकर लड़ावे। और कम पड़े तो उन्हीं को झट फैला देवे। जब नगर, दुर्ग वा शत्रु की सेना में प्रविष्ट होकर युद्ध करना हो, तब सूचीव्यूह अथवा वज्रव्यूह, जैसे दुधारा खड्ग दोनों ओर काट करता है, वैसे युद्ध करते जायें और प्रविष्ट भी होते चलें। वैसे अनेक प्रकार के व्यूह अर्थात् सेना को बनाकर लड़ावें।
>
> जो सामने शतघ्नी – तोप वा भुशुंडी – बंदूक छूट रही हो, तो सर्पव्यूह अर्थात् सर्प के समान सोते–सोते चले जायें। जब तोपों के पास पहुंचे, तब उनको मार वा पकड़ तोपों का मुख शत्रु की ओर फेर उन्हीं तोपों से वा बंदूक आदि से उन शत्रुओं को मारें।

वह युद्ध भूमि के प्रकार को भी ध्यान में रखते हुए कहते हैं–

> जो समभूमि में युद्ध करना हो तो रथ, घोड़े और पदातियों से और जो समुद्र में युद्ध करना हो तो नौका और थोड़े जल में हाथियों पर, वृक्ष और झाड़ी में बाण तथा स्थल बालू में तलवार और ढाल से युद्ध करें।

वह अपने सैनिकों के उत्साहवर्धन की बात भी करते हैं, उनकी प्रवीणता व निष्ठा के बारे में बताते हैं, और सैनिकों को दवाईयां, राशन व अन्य मदद देने का महत्त्व बताते हैं। वह बिना व्यूह बनाए लड़ने को सही नहीं मानते, तो शत्रु की घेराबंदी की भी बात करते हैं। वह सलाह देते हैं कि शत्रु को घेर कर उनके चारे, अन्न, जल और ईंधन पर अधिकार कर लेना चाहिए या नष्ट कर देना चाहिए या दूषित कर देना चाहिए जिससे शत्रु को पूरी तरह हराया जा सके। अपने समय से आगे की सोचते हुए वायुयानों की सहायता से वायु युद्ध की बात भी करते हैं, जिसका आविष्कार उनके जीवनकाल में नहीं हुआ था। उन्हें युद्ध में जासूसों का महत्त्व ज्ञात है। वह केवल युद्ध की बात ही नहीं करते, बल्कि पराजित लोगों के सम्मान की रक्षा के लिए स्पष्ट कहते हैं–

> . . . और ऐसा न करे कि जिससे उसका योगक्षेम भी न हो। जो बंदीगृह करे, तो भी उसका सत्कार यथायोग्य रखे। जिससे वह हारने के शोक से रहित होकर आनंद में रहे . . . और कभी उसको चिढ़ावे नहीं, न हंसी और ठट्ठा करे। न उसके सामने 'हमने तुझको पराजित किया है' ऐसा भी कहे। किंतु 'आप हमारे भाई हैं' इत्यादि मान्य प्रतिष्ठा सदा करे।

बताना उचित होगा कि उपरोक्त बातें स्वामी दयानंद ने 'मनुस्मृति' के आधार पर लिखी हैं, लेकिन यह भी तथ्य है कि 1845–46 (एंग्लो–सिख युद्धों जिनके दौरान वह अपने पैत्रक घर में ही थे) के बाद 1857–59 की क्रांति अवधि में अनेक युद्ध हुए जिसके बाद उनके जीवनकाल में भारत में और कोई युद्ध नहीं हुए, जो एक बार फिर उनके इस ज्ञान का संबंध क्रांति से जोड़ता है कि उन्होंने इन युद्धों को नजदीक से देखा था। यदि क्रांति की अवधि में वह नर्मदा किनारे जंगलों में ही रहे होते तो इस प्रकार के उद्गार प्रस्तुत नहीं किए होते। यहां एक बिंदु ज्ञातव्य है कि 1857 क्रांति के प्रतिशोध में अंग्रेजों ने एक भी क्रांतिकारी को बंदी नहीं बनाया था। जितने लोग भी वे पकड़ते थे, उन सभी को जलाकर, काटकर, फांसी

देकर, गोली से भूनकर या तोप के मुंह से बांध उड़ाकर मौत के घाट उतार दिया जाता था। उपरोक्त कथन स्पष्ट रूप से इस अनुभव से निकला था कि युद्धबंदियों के भी अधिकार होते हैं।

वह अपने पूना प्रवचन (पांचवें प्रवचन) में स्पष्ट रूप से 1857 का संदर्भ देते हुए कहते हैं–

> सन् 1857 के साल के लगभग जब दंगा–फसाद हुआ, उस समय किसी एक यूरोपियन ने अमृतराव पेशवा के भारी पुस्तकालय को जला दिया – ऐसी लोक में किंवदंती है। इससे कितनी विद्या नष्ट हो गई, इस पर विचार करो।

इस प्रकार की सूचना जो अन्यत्र प्रकाशित नहीं है, उन्हें उसका ज्ञान होना उनकी 1857 की क्रांति में भागीदारी का स्पष्ट परिचायक है। उन्होंने न केवल क्रांति में सक्रिय भूमिका निभाई, बल्कि उसके बाद में भी देशवासियों को विदेशी अत्याचार और शासन के विरुद्ध उत्प्रेरित करने में लगे रहे। उन्होंने *सत्यार्थ प्रकाश* के ग्यारहवें समुल्लास में लिखा–

> ...जब ये दोष हो जाते हैं तब आपस में विरोध हो कर अथवा उनसे अधिक दूसरे छोटे कुलों में से कोई ऐसा समर्थ पुरुष खड़ा होता है कि उनका पराजय करने में समर्थ होवे। जैसे मुसलमानों की बादशाही के सामने शिवा जी, गोविंदसिंह जी ने खड़े होकर मुसलमानों के राज्य को छिन्न–भिन्न कर दिया।

वह अंग्रेजों के विरुद्ध बोलते हुए लिखते हैं–

> ...[अंग्रेज लोग] अपने देश के बने हुए जूते को कार्यालय में जाने देते हैं और इस देशी जूते को नहीं। इतने ही में समझ लो कि अपने देश के बने जूतों का भी कितना मान, प्रतिष्ठा करते हैं, उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते... कुछ सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आये यूरोपियनों को हुए और आज तक वे लोग मोटे कपड़े आदि पहनते हैं जैसा कि स्वदेश में पहनते थे। परंतु उन्होंने अपने देश का चाल–चलन नहीं छोड़ा और तुममें से बहुत से लोगों ने उनका अनुकरण कर लिया। इसी से तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान ठहरते हैं। अनुकरण करना किसी बुद्धिमान का काम नहीं . . . हम और आपको अति उचित होगा कि जिस देश के पदार्थों से अपना

> शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति तन, मन, धन से सब जने मिलकर प्रीति करें।

वह 'आर्याभिविनयः' में प्रार्थना करते हुए कहते हैं–

> अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों।

उपरोक्त के अतिरिक्त, कुछ और तथ्यों की सावधानीपूर्वक परीक्षा करने से स्वामी दयानंद की 1857 क्रांति में भूमिका स्पष्ट होने लगती है। इस क्रांति से पहले अनेक स्थानों पर सिपाहियों द्वारा विद्रोह हुआ था। उनमें से कई 1857 में ही हुए थे; लेकिन किसी भी स्थान पर सभी सिपाहियों ने इसमें भाग नहीं लिया था। दूसरा, मेरठ के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्थान पर आम नागरिकों ने इसमें भागीदारी नहीं निभाई थी। इसका अर्थ यही निकलता है कि यहां कुछ योजित अभियान चल रहा था जिसने सभी सिपाहियों और आम नागरिकों को एक–दूसरे के निकट नियमित संपर्क में जोड़े रखा।

आचार्य दीपांकर अपनी पुस्तक *स्वाधीनता आंदोलन और मेरठ* में स्पष्ट कहते हैं कि साधुओं–संन्यासियों के अनेक दल गांव–गांव जाकर क्रांति की मशाल जला रहे थे। इसी प्रकार का वर्णन सावरकर ने भी अपनी पुस्तक *1857 का स्वातंत्र्य समर* में किया है। इस पुस्तक में हमने आपको अनेक संदर्भ दिए हैं जो पूर्व योजना की ओर इंगित करते हैं।

इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं कि उनके नेटवर्क के कारण ही 9 मई को सिपाहियों को दंड देने के कुछ ही घंटों में पूरे क्षेत्र में समाचार पूरी तरह फैल चुका था। यह दयानंद की प्रेरणा के ही कारण था कि अन्य स्थानों पर सिपाही युद्ध करने के लिए वेतन लिया करते थे और कई जगह केवल पैसे के लिए क्रातिकारियों से विश्वासघात भी कर दिया करते थे, लेकिन मेरठ ही एक ऐसा स्थान था जहां सिपाहियों ने बिना वेतन सुनिश्चित हुए क्रांति में भागीदारी करने को स्वीकार कर लिया; न केवल यह, बल्कि जब बहादुरशाह जफर ने उनसे कहा कि उसके पास उन्हें वेतन देने के लिए धन नहीं है तो सिपाहियों ने उसे विश्वास दिलाया कि वे अंग्रेजों को लूटकर उसके खजाने को भर देंगे।

इस प्रकार की उच्च स्तर की प्रेरणा कोई अनोखा व्यक्ति ही दे सकता था, और उस समय भारत के पटल पर और कोई ऐसा व्यक्तित्व नहीं था। स्वामी दयानंद की सांगठनिक क्षमता अतुलनीय सिद्ध है कि उन्होंने आर्य

समाज के रूप में ऐसा संगठन रचित किया जो उनकी मृत्यु के डेढ़ शताब्दी बाद भी मजबूती से खड़ा है। आगे विश्लेषण में हम देखेंगे कि वह औघड़ बाबा यदि स्वामी दयानंद नहीं थे तो और कौन हो सकता था। जैसा हम आपको पहले बता चुके हैं कि स्वयं उन्हें इस क्रांति के सफल होने की आशा नहीं थी, क्योंकि उनका विचार था कि जब तक देशी राजाओं सहित सभी भारतीय लोग संगठित नहीं होते, इस क्रांति को सफल नहीं बनाया जा सकता था। लेकिन जब उन्हें गुरु का आदेश हुआ तो उन्होंने इसे पूरा करने में कोई कोर–कसर न उठा रखी। यदि क्रांति होने के बाद भी सभी देशी राजा और नागरिक एक–साथ आ गए होते तो देश अंग्रेजों के चंगुल से 1857 में ही आजाद हो गया होता। यह भी सत्य है कि उन्होंने इस क्रांति को देशी सैनिकों की मदद से ही कुचला था।

स्वामी दयानंद के तार मेरठ से किस निकटता से जुड़े थे, इसका आभास हमें अन्य तथ्यों से भी होता है। जब 1875 में उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की तो इसकी शाखाएं बहुत ही विस्तार से मेरठ मंडल के सभी जिलों में शीघ्रता से फैल गईं, इसका अर्थ यह हुआ कि वहां पहले विस्तृत कार्य हुआ था और उनके संपर्क सूत्र थे। अपने साहित्य में उनके द्वारा 'झट' जैसे शब्दों का प्रयोग दिखाता है कि उनका पश्चिमी उत्तर प्रदेश के ग्रामीण अंचल में गहरा संबंध था। जानना रोचक होगा कि 1857 से 1875 के मध्य, अर्थात् क्रांति व आर्य समाज की स्थापना के मध्य वह केवल एक बार मेरठ में आए 1867 में। आर्यमुनि वानप्रस्थ व अन्य विद्वानों के अनुसार, वह इस समय प्रसिद्ध नहीं थे। वह यहां दो सप्ताह से कम समय रुके और कोई विशेष कार्य नहीं किया। इसके बाद व आर्य समाज की स्थापना तक वह फिर कभी मेरठ नहीं आए।

एक और तथ्य भी दृष्टव्य है। अपनी मृत्यु से जरा पहले स्वामी दयानंद ने अपनी पुस्तकों और संपत्ति की देखभाल के लिए 16 अगस्त 1880 को मेरठ में 'परोपकारिणी सभा' नामक न्यास (ट्रस्ट) की स्थापना की। इसके न्यासियों में राजाओं और महाराजाओं के नाम के तुरंत बाद चौथे स्थान पर मेरठ के लाला रामशरणदास का नाम दिया जो उस समय आर्यसमाज मेरठ के उप–प्रधान थे। उस समय मेरठ कम्यूनिस्टों–मार्क्सवादियों के विचारकों का भी गढ़ था जो बाद की घटनाओं से सिद्ध भी होता है। इन दोनों तथ्यों से उनके मेरठ के साथ निकट संपर्क का ज्ञान होता है। साथ ही, श्यामजी कृष्ण वर्मा जैसे कम्यूनिस्ट का नाम इन न्यासियों में रखना इस

बात को और पुष्ट करता है कि न केवल दयानंद ने मेरठ को प्रभावित किया था, मेरठ ने भी उन्हें गहनता से प्रभावित किया था।

दयानंद ही क्यों?

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इस साधु पर स्वामी दयानंद ही होने का संदेह क्यों जाता है, जबकि इस काल के अन्य महापुरुष व सामान्यजन भी थे जिनके लिए यह संभव था कि वे इस भूमिका में हो सकते थे। इन संभावित नामों में से हमने उन पर विचार किया है जो 1857 में लगभग 20 वर्ष से अधिक युवावस्था में थे और जिस प्रकार के कार्य उस साधु ने किए, वे उन्हें करने में सक्षम थे और आगे चलकर उन्होंने देश–सेवा में नाम भी कमाया क्योंकि विभिन्न वर्णनों में इस साधु को लगभग 30 वर्ष का बताया गया है।

इस सूची को बनाने में हमने *अपना जन्मचरित्र* आदि पुस्तकों की सहायता ली है। इन लोगों के बारे में हम अपनी टिप्पणी निम्न प्रकार दे सकते हैं–

प्रसन्न कुमार टैगोर (1801–86) वर्ष 1857 में लगभग 56 वर्ष के थे और प्रमाणों में कथित युवा 'हिन्दू फकीर' के समान प्रतीत नहीं होते। वैसे भी 1854 में वह कंपनी की सेवा में सहायक क्लर्क के रूप में भरती हो गए थे। उन्होंने राजा राम मोहन राय के सती आंदोलन में भाग लिया था और ब्रह्म समाज के मूल न्यासियों में से एक थे।

राधानाथ सिकदर (1813–70) गणितज्ञ थे और उन्होंने ही प्रथम बार माउंट एवरेस्ट की ऊंचाई की गणना की थी जिसके आधार पर उन्हें कंपनी की सेवा में 1851 में ले लिया गया था और 1857 के काल में वह दार्जिलिंग की पहाड़ियों की ऊंचाई की गणना करने और मौसम विभाग में कार्यरत थे। उनके नाम पर विचार करने का कारण है कि 1843 में उन्होंने मजिस्ट्रेट वेंसीटार्ट द्वारा सर्वेक्षण विभाग के गैर–कानूनी शोषण के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाई थी जिसे रामगोपाल घोष द्वारा संपादित समाचार–पत्र *दॅ बंगाल स्पेक्टेटर* में विस्तार से छापा गया था। 1854 में उन्होंने *मासिक पत्रिका* नामक एक बंगाली पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया और महिला शिक्षा, उत्थान और सशक्तिकरण पर प्यारे चंद मित्रा के साथ मिलकर लेख लिखे।

सर सैयद अहमद खां (1817–98) एक समाज–सुधारक, दार्शनिक व शिक्षाशास्त्री थे और उन्हें 'द्वि–राष्ट्र' सिद्धांत का जनक माना जाता है जिसके आधार पर पाकिस्तान आंदोलन रचित हुआ। वह सन् 1838 में

कंपनी की सेवा से जुड़े और 1876 में सेवानिवृत्त हुए। 1857 में वह अंग्रेजों के वफादार बने रहे और उन्हें यूरोपियन लोगों के जीवन बचाने के लिए जाना जाता है। उन्होंने एक पुस्तिका अवश्य लिखी जिसका शीर्षक था *The Causes of the Indian Mutiny* (भारतीय विद्रोह के कारण) जिसमें उन्होंने विभिन्न ब्रिटिश नीतियों को विद्रोह के लिए उत्तरदायी ठहराया था।

देबेंद्रनाथ टैगोर (1817–1905) एक दार्शनिक व धार्मिक सुधारक थे जो पहले ब्रह्म समाज से जुड़े और बाद में 1848 में ब्रह्म पंथ की स्थापना की। मुख्य रूप से धर्म और समाज की उन्नति में ही लगे रहे और कुछ राजनैतिक कार्य के अतिरिक्त उनमें क्रांतिकारी विचारों का अन्यथा अभाव पाया जाता है।

ईश्वर चंद्र विद्यासागर (1820–91) एक प्रमुख शिक्षाविद्, लेखक, अनुवादक और समाजसेवी थे। उन्होंने बंगाली गद्य को सरल बनाने और इसका सुधार करने के विशिष्ट प्रयास किए। उन्होंने महिलाओं के उत्थान, विधवा विवाह को लोकप्रिय बनाने और बाल विवाह को समाप्त करने में काफी कार्य किया। 1856 का हिन्दू पुनर्विवाह कानून उनके आंदोलन का परिणाम था। इसी प्रकार, उन्होंने 1891 के सहमति कानून को पारित कराने में भूमिका निभाई जिसमें विवाह की आयु 12 वर्ष की गई। 1857 की क्रांति के समय वह अपने नवस्थापित विद्यालय बरिशा हाई स्कूल की व्यवस्था करने में व्यस्त थे। अपने विशाल सामाजिक कार्य के बावजूद वह किसी सशस्त्र क्रांति के लिए उद्यत प्रतीत नहीं होते।

प्यारे चरण सरकार (1823–75) शिक्षाविद् थे और उन्होंने बालिकाओं की शिक्षा में कार्य किया। उन्होंने पाठ्य पुस्तकें लिखीं जिनके कारण युवा लोगों को अंग्रेजी भाषा सीखने की प्रेरणा प्राप्त हुई और इनका अनुवाद लगभग सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में हुआ। 1857 में वह हरे स्कूल में प्रधानाचार्य थे।

माइकेल मधुसूदन दत्त (1824–73) कवि और नाटककार थे। उन्होंने 1843 में ईसाई धर्म अपना लिया, ऐसा करने से ही उनका कंपनी राज के विरुद्ध कार्य करने की प्रेरणा अनुपस्थित प्रतीत होती है। 1857 काल में वह अदालत में मुख्य अनुवादक के रूप में कार्यरत् थे।

दादाभाई नौरोजी (1825–1917) एक पारसी विद्वान, शिक्षाविद् और व्यापारी थे। वह 1855 में लंदन चले गए और अगले तीन वर्षों तक वहीं व्यापार में लीन रहे।

राजनारायण बोस (1826–1900) शिक्षाविद् और लेखक थे। अपनी क्रांतिकारी भावना के कारण उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की और हिन्दू मेला आरंभ किया, यह ऐसा संगठन था जो भारतीय जनमानस में क्रांतिकारी विचारों का प्रसार करता था। वह एक राजनैतिक कार्यकर्त्ता भी थे लेकिन उनका ध्यान मुख्यतया शिक्षा पर था। वह प्रमुख क्रांतिकारी और दार्शनिक अरविंद घोष के दादा थे। 1857 के आसपास वह एक स्कूल में मुख्य शिक्षक के रूप में कार्य कर रहे थे।

दीनबंधु मित्र (1829–73) नाटककार और शिक्षाविद् थे लेकिन 1855 में वह पटना में पोस्टमास्टर के रूप में कार्य कर रहे थे और 1871 तक डाक व तार विभाग में विभिन्न स्थानों और पदों पर कार्य करते रहे। उन्हें उनके नाटक 'नील दर्पण' के लिए जाना जाता है जिसने नील किसानों की दयनीय अवस्था को उजागर किया जिसके कारण शायद 1858 का इंडिगो विद्रोह हुआ।

तारकनाथ पालित (1831–1914) एक वकील थे और परोपकार के कार्य करते थे। 1905 के बंग–भंग के दौरान वह स्वदेशी आंदोलन से जुड़े थे। बालीगंज साइंस कालेज की स्थापना में उनकी प्रमुख भागीदारी रही। क्रांतिकाल में वह इंग्लैंड में रह कर पढ़ाई कर रहे थे, जहां से वह 1871 में वापस आए और अपने कानूनी व्यवसाय की स्थापना की।

प्रेमचंद रायचंद (1831–1906) प्रसिद्ध सूत व्यापारी थे जिन्हें 'कॉटन किंग' और 'बुलियन किंग' के नाम से जाना जाता था। वह दें नेटिव शेअर एंड स्टॉक ब्रोकर्स एसोसिएशन के संस्थापक सदस्य थे जिसे आज बांबे स्टॉक एक्सचेंज के रूप में जाना जाता है। प्रथम स्वाधीनता संग्राम में उनकी किसी भूमिका का अंदेशा नहीं होता क्योंकि इस समय वह अपना व्यापार फैला रहे थे। उन्होंने शिक्षा के उत्थान हेतु भी कार्य किया।

डा. महेंद्रलाल सरकार (1833–1904) एक चिकित्सक थे और 1857 के क्रांतिकाल में कलकत्ता मेडिकल कालेज में पढ़ाई कर रहे थे। उन्होंने 1860 में अपनी अंतिम परीक्षा उच्चतम सम्मान से उत्तीर्ण की। उनमें क्रांतिकारी विचारों का उद्‌भव उस समय के बाद हुआ जब वह स्वामी दयानंद के संपर्क में आए, लेकिन ये विचार मुख्यतया विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित थे।

बंकिमचंद्र चटर्जी (1838–94) लेखक, कवि और संवाददाता थे। वह अपने उपन्यास *वंदे मातरम्* के लिए जाने जाते हैं। हमारा राष्ट्रीय गीत 'वंदे मातरम्' उनकी पुस्तक *आनंदमठ* से लिया गया है जिसे उन्होंने 1882

में लिखा। वह 1857 में पढ़ाई कर रहे थे और उनके पिता कंपनी की सेवा में थे।

उपरोक्त संभावित नामों व कुछ अन्य व्यक्तियों के बारे में खोजबीन करने से हम अपने शोध को स्वामी दयानंद पर ही केंद्रित कर सकते हैं। यह बात अवश्य है कि उनकी भूमिका को सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण बहुत विश्वसनीय नहीं, लेकिन अप्रत्यक्ष व परिस्थितिजन्य प्रमाणों की कमी नहीं, जिनकी चर्चा हम उपरोक्त वर्णन में कर चुके हैं।

दयानंद ने हमारे देश का वर्तमान स्वरूप संवारने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उनसे प्रेरित व्यक्तियों में महान स्वाधीनता सेनानी रहे हैं जिन्होंने देश की खातिर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। इन विभूतियों में उनसे प्रत्यक्ष रूप से संपर्क में आकर प्रभावित और प्रेरित होने वाले श्यामजी कृष्ण वर्मा तो हैं ही, उनके अतिरिक्त सुभाष चंद्र बोस, लाला लाजपत राय, मैडम कामा, विनायक दामोदर सावरकर, लाला हरदयाल, मदन लाल ढींगरा, राम प्रसाद बिस्मिल, महादेव गोविंद रानाडे, स्वामी श्रद्धानंद के नाम भी इसी सूची में डाले जा सकते हैं। उनकी प्रशंसा स्वामी विवेकानंद, रामकृष्ण, बिपिन चंद्र पाल, सरदार वल्लभभाई पटेल, श्यामा प्रसाद मुखर्जी और रोमां रोलां सरीखे व्यक्तियों ने की है। इस सूची से भी सिद्ध होता है कि दयानंद किस प्रकार के क्रांतिकारी विचारों के स्वामी थे और अपने सख्त स्वभाव के बाद भी अन्य लोगों को गहनता से प्रभावित करते थे। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उन्होंने 1857 में मेरठ के सिपाहियों को क्रांति के लिए न केवल उकसाया, बल्कि उन्हें इस प्रकार नेतृत्व प्रदान किया कि वे अपने उद्देश्य में सफलता अर्जित कर सकें।

18

दिल्ली के बाद

मेरठ के सिपाहियों द्वारा दिल्ली के लाल किले में प्रवेश करने के बाद कर्नल रिप्ले की टुकड़ी से उनका सामना हुआ, इसका वर्णन आप पिछले पृष्ठों पर पढ़ चुके हैं। जब ये सिपाही बहादुरशाह जफर के पास पहुंचे तो उन्होंने उस साधु को खोजा जो वास्तव में युवा स्वामी दयानंद थे, लेकिन वह तो उस परछाईं के समान गायब हो चुके थे जो तीव्र प्रकाश का स्वयं भाग बन जाती है।

दयानंद को जो कार्य मिला था, उन्होंने उसे पूर्ण दक्षता से पूरा कर दिखाया था। इसके साथ उन्हें उन निर्देशों का पालन भी करना था जो उनके गुरु ने दिए थे, उनमें अपनी पहचान गुप्त रखने का निर्देश भी शामिल था व क्रांति प्रस्फुटन के बाद उससे विलग हो जाना था। जिस प्रकार उन्होंने सिपाहियों के बीच जाकर उनका नेतृत्व संभाल लिया था, उद्देश्य पूर्ण होने पर वहां अधिक रुकने का कोई औचित्य भी नहीं था। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह था कि क्रांति होने के बाद अब यह राजनैतिक–सैनिक मामला रह गया था जो उनके कार्यक्षेत्र से बाहर था। किसी ने नहीं देखा था कि लाल किले के फाटक से दयानंद ने प्रवेश किया था या बाहर से ही चले गए थे। जब सभी सिपाहियों की आंखें उस घटनाक्रम पर जमी थीं कि क्या वहां रक्तपात होगा, वह इस अवसर का लाभ उठाकर अपने अगले, उच्चतर उद्देश्य की ओर निकल गए थे।

स्वस्थ, लंबी–ऊंची कद–काठी वाले दयानंद किसी सामान्य संन्यासी के समान लंबे–लंबे पग रखते हुए पहले लाल किला क्षेत्र से बाहर की ओर चले, और फिर उन्होंने दक्षिणगामी पथ का अनुसरण आरंभ किया। उनके गुरु के आदेशानुसार अपनी गुप्त पहचान बनाए रखने के लिए उनक:

अगला गंतव्य नर्मदा का तट था। उस क्षेत्र में उन्हें कोई जानता न था, इसलिए यह उनके लिए निरापद था।

घर त्यागने के बाद पिछले एक दशक में दयानंद ने अनेक लंबी पैदल यात्राएं की थी, और यह यात्रा भी उन्हीं में से एक थी। इस मार्ग में वह मथुरा के निकट से निकले लेकिन इस समय अपने गुरु का आशीर्वाद लेने की उनकी कोई योजना नहीं थी। अगले महीने उन्होंने लगभग 800 किमी की यात्रा की और इस बात को सुनिश्चित किया कि उनकी पहचान गुप्त ही रहे। वह मार्ग में गांवों में स्थित छोटे मंदिरों में ठहरते या रात्रि विश्राम पेड़ों पर करते। जितना संभव हो सके, मार्ग में किसी भी व्यक्ति के संपर्क में आने से बचते। उन्होंने 1857 क्रांति में मेरठ या दिल्ली में अपनी भूमिका के बारे में कभी बात नहीं की। उन्होंने अपने जीवन के तीन अज्ञात वर्षों के बारे में भी कभी कुछ नहीं कहा। उन्होंने अपनी जीवनी में बताया है कि जब वह नर्मदा के तट पर पहुंचे, उस समय क्या–क्या घटित हुआ, जिसे आप पिछले पृष्ठों में पढ़ चुके हैं। यहां से वह 1860 में अपने गुरु के पास वापस चले जाएंगे क्योंकि अब उन्हें उनके मार्गदर्शन में अध्ययन करना था। उस समय तक कंपनी राज समाप्त हो चुका होगा और ब्रिटिश सरकार देश की बागडोर अपने हाथों में ले चुकी होगी, जिसके साथ देश का इतिहास भी एक करवट ले चुका होगा।

किसी जिज्ञासु पाठक के लिए सर्वथा निराशाजनक बिंदु यह है कि उन्होंने महान क्रांति में अपने योगदान के बारे में कुछ भी वर्णित नहीं किया है, और अपनी जीवनी को अटपटे ढंग से मझधार में छोड़ दिया है, हालांकि उन्होंने अपने उपदेशों और पुस्तकों में यहां–वहां कुछ संकेत अवश्य छोड़े हैं। उन्होंने यह जानबूझकर किया है क्योंकि आवश्यकता थी कि वह अपनी भूमिका को गुप्त बनाए रखें, क्योंकि ऐसा न करने पर अंग्रेज कड़ा प्रतिशोध लेते जो उनके उच्चतर लक्ष्य को अस्तित्व में आने से पहले ही समाप्त कर देता, और इसका परिणाम हमारी हानि में होता क्योंकि हम ऐसे महान नेता के संपर्क में आने से रह जाते जिन्होंने राष्ट्र–निर्माण में महती भूमिका निभाई।

19
संक्षिप्त जीवन चरित

स्वामी दयानंद के जीवनवृत्त को ध्यानपूर्वक देखने पर स्पष्ट होता है कि वह किसी भी पूर्व स्थापित तथ्य को आसानी से स्वीकार नहीं करते थे और एक बार किसी निश्चय को मन में धारण करने के बाद उस पर अडिग बने रहते थे। यही उनका क्रांतिकारी गुण था जिसने आने वाले समय में न केवल क्रांति विस्फोट में सहायता देनी थी, बल्कि संपूर्ण हिन्दू धर्म को नई परिभाषा भी प्रदान करनी थी। उनके बचपन और युवाकाल की कुछ घटनाओं ने उनके विचारों को गहनता से प्रभावित किया।

12 फरवरी 1824 को वर्तमान गुजरात में मोरवी राज्य के टंकारा ग्राम में कर्षनजी तिवारी के घर में एक पुत्र ने जन्म लिया। इस जन्मतिथि के बारे में विभिन्न मत हैं लेकिन इस तारीख के बारे में अधिकांश विद्वान एकमत हैं। कर्षनजी ने अपने प्रथम पुत्र का नाम 'मूलजी' रखा। वह भगवान शंकर के अनन्य भक्त थे इसलिए वह मूलजी को 'मूलशंकर' भी कहकर पुकारा करते थे। अन्य सदस्य मूलजी को दयालजी भी कहा करते थे।

उनका परिवार सम्मानित और संपन्न था और जमींदारी प्राप्त थी। 1807 में मोरवी राज्य ब्रिटिश संरक्षण में आ गया था, जिसके बाद उनका परिवार भी अंग्रेजों द्वारा थोपे गए शोषक भू–कर नियमों से कुप्रभावित हुआ था जिसकी चर्चा परिवार में अवश्य ही होती होगी जिसने मूलजी के हृदय में अंग्रेजों के विरुद्ध विचार विकसित किए होंगे।

मूलजी की शिक्षा घर पर पिता ही कराते थे जिसमें 'यजुर्वेद–संहिता' के अतिरिक्त व्याकरण और अन्य धार्मिक ग्रंथ सम्मिलित थे। अपने विश्वास के पथ पर अग्रसर होते हुए कर्षनजी की इच्छा थी कि उनका पुत्र भी शैव पंथ को अपनाए। 14 वर्ष की किशोर आयु में मूलशंकर के जीवन में

एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी। शिवरात्रि का त्यौहार आने पर पिता ने उसे इस पवित्र दिन पर रखे जाने वाले व्रत का महात्म्य समझाया और उसे व्रत रखने और सारी रात मंदिर में बैठकर शिव आराधना करने को मना लिया। शिवलिंग के निकट बैठकर सभी भक्त लोग आराधना करने लगे, और देर रात बैठे–बैठे ही ऊंघने लगे, लेकिन किशोर तो शिव की कृपा प्राप्त करने के लिए पूर्ण चेतन अवस्था में आराधना में लगा रहा। रात में सभी को सोया देखकर चूहे अपने बिलों से निकल आए और शिवलिंग पर रखे प्रसाद को खाने लगे। इस घटना को देखकर किशोर मूलजी के मन में अनेक विचार उमड़ने लगे और उसका मूर्ति–पूजा से विश्वास डगमगाने लगा। वह आराधना पूरी किए बिना ही खड़ा हो गया और अपना व्रत भी तोड़ लिया जिसके कारण उसे पिता की नाराजगी का भी सामना करना पड़ा। वह मूर्ति–पूजा के पीछे तर्क को सुनने के लिए भी तैयार नहीं था क्योंकि मन–ही–मन वह कुछ निश्चय कर चुका था।

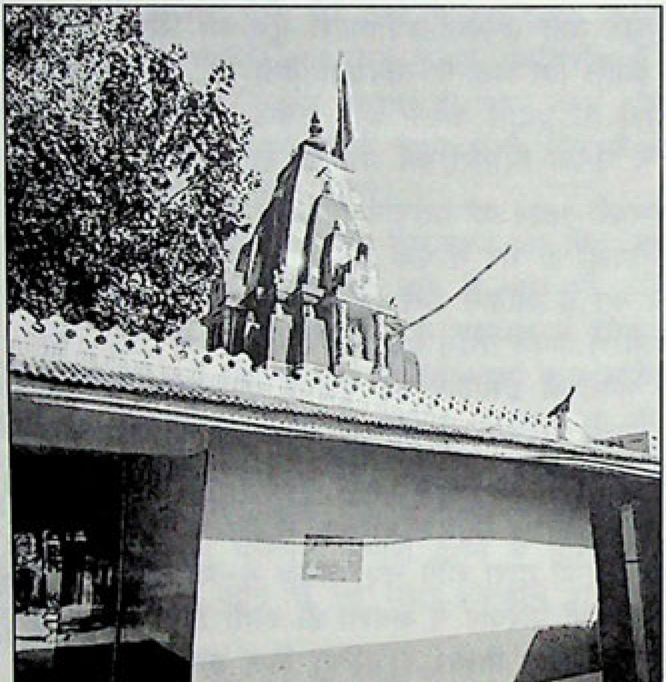

चित्रः टंकारा, गुजरात स्थित शिव मंदिर जहां यह घटना घटी।

आने वाले वर्षों में मूलजी की बहन और चाचा की मृत्यु हो गई, जिसने उसके मन में वैराग्य का भाव भर दिया और वह ग्रहस्थ के बंधनों से स्वतंत्र होने का मन बनाने लगा। इस तरह के विचारों की चर्चा मूलजी अपने मित्रों से कर बैठा तो यह बात उसके परिजनों तक पहुंच गई, और उन्होंने सुयोग्य कन्या देख उसके विवाह को निश्चित करने का मन बनाया। इस पर मूलजी ने कहा कि वह काशी जाकर और पढ़ना चाहता था। परिजन सहमत नहीं हुए, लेकिन वे यह बात मान गए कि वह निकट गांव के निवासी एक विद्वान के पास जाकर आगे पढ़े। इस बीच, मूलजी का मन वैराग्य के प्रति दृढ़ होता जा रहा था और उसने एक बार फिर यह इच्छा व्यक्त कर दी। जब उसके परिवार को यह ज्ञात हुई तो इस बार उन्होंने उसे न केवल वापस घर बुला लिया गया बल्कि उसके विवाह की तैयारी भी आरंभ कर दी।

यह समय आते–आते मूलजी 21 वर्ष का नवयुवक हो चुका था और यह समय था सन् 1846 का। रात्रि का पहला प्रहर बीत जाने के बाद जब सभी लोग गहरी निद्रा में थे, उसने घर छोड़ दिया। अंधेरी रात में कच्चे–पक्के रास्तों से होता हुआ मूलजी टंकारा पार कर गया और कुछ देर विश्राम किया। उसके बाद अगले दिन वह सारा दिन चला और सूर्यास्त होने पर एक निर्जन–से स्थान पर बने हनुमान मंदिर में विश्राम किया। वह संपन्न परिवार से था, सो उसके पास कुछ अंगूठियां और रुपए थे। अनजानी राहों पर चलते हुए उसे कुछ साधु मिले जिन्होंने उससे इन सबको 'मोह' के नाम पर हड़प लिया कि उनके साथ वह कभी वैराग्य प्राप्त नहीं कर सकता था।

आगे चलते हुए सायला नामक स्थान पर एक ब्रह्मचारी के कहने पर मूलजी ने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा ली और गेरुए रेशमी वस्त्र धारण कर तूंबा ग्रहण कर लिया, और योग–साधना के मार्ग पर आगे बढ़ने लगा। उसे अब किसी विद्वान योगी की खोज थी जो उसे विद्याध्ययन करा सके। रास्ते में जब कुछ वैरागियों ने उसके रेशमी वस्त्रों का उपहास किया तो उसने उनका त्याग कर सूती धोती धारण कर ली। उसे सिद्धपुर में होने वाले मेले की जानकारी मिली जो कार्तिक मास में लगना था तो वह उसी ओर चल दिया कि वहां किसी विद्वान से भेंट हो सकती थी। मार्ग में एक परिचित ने उसे देख लिया और इस प्रकार उसके परिवार को उसके बारे में पता चला। सिद्धपुर में मूलजी ने नीलकंठ महादेव मंदिर में अपना ठिकाना बनाया जहां उसके पिता ने उसे खोज निकाला। पिता ने उसे डांट लगाई

और उसके वस्त्र बदलवाए और उसे सिपाहियों की कड़ी देखरेख में रख दिया। दूसरी ओर, मूलजी ज्ञान की खोज के लिए दृढ़–प्रतिज्ञ था, इसलिए अवसर देखकर तीसरी रात के तीसरे प्रहर ऊंघते हुए सिपाहियों के बीच से निकल गया और कुछ दूर स्थित एक मंदिर के शिखर में जा छुपा। सिपाही उसके पीछे वहां भी आए, लेकिन उसे खोज नहीं पाए।

अगले दिन उसने वहां से अपनी यात्रा आरंभ की। अहमदाबाद होते हुए बड़ौदा पहुंचा जहां ब्रह्मानंद ब्रह्मचारी से भेंट हुई और वेदांत पर चर्चा हुई। अब वह गंभीरता से अध्ययन करना चाहता था। उसने देखा कि भोजन पकाने और खोजने में पर्याप्त समय व्यर्थ हो जाता है, इसलिए उसने संन्यास लेने का निश्चय किया। उसकी भेंट चाणोद में स्वामी पूर्णानंद सरस्वती से हुई और उनसे संन्यास ग्रहण करने की इच्छा कह सुनाई। पहले तो स्वामी पूर्णानंद ने टालने का प्रयास किया लेकिन मूलजी का दृढ़–निश्चय देख उसे संन्यास की दीक्षा देकर उसका नामकरण दयानंद सरस्वती कर दिया। इस प्रकार, यह युवक स्वामी दयानंद सरस्वती के रूप में अवतरित हुआ जो आने वाले समय में न केवल पूरे विश्व की महानतम् क्रांतियों में से एक का वाहक बनेगा बल्कि विश्व के मानस को परिवर्तित कर वेदांत की गौरवपूर्ण स्थापना भी करेगा।

अब दयानंद अपना अधिकांश समय योग–साधना और शास्त्राध्ययन में लगाने लगे। इन विधाओं की प्यास उन्हें ऐसी लगी कि जितना वह तृप्त होते, उतना ही अधिक प्यास और बढ़ जाती। जहां कहीं से भी उन्हें ज्ञान प्राप्ति हो सकती थी, वह उसी ओर चल देते। जहां कहीं उन्हें पता चलता कि कोई विद्वान, साधु या संन्यासी उन्हें ज्ञान प्राप्ति करा सकता था, वह उसी से संपर्क साधते, और इस प्रयास में वह एक स्थान से दूसरे की ओर यात्रा करते रहे।

इसी प्रयत्न के अंतर्गत वह 1855 में हरिद्वार में कुंभ मेले में आ गए। विभिन्न स्थानों की यात्रा और अनेक विद्वानों से भेंट और चर्चा के कारण उनका ज्ञान अनूठा और स्पष्ट हो गया था। वह जिससे बात करते, उसे मानो जादू के जोर से अपने वश में कर लेते। इसी के साथ उनकी प्रसिद्धि बढ़ने लगी, लेकिन वह स्वयं को अभी तक भी शिक्षार्थी ही मानते थे और ज्ञान प्राप्ति में सहायता के लिए किसी योग्य गुरु की खोज में अनवरत् लगे हुए थे। यही अवसर था जब वह स्वामी संपूर्णानंद सरस्वती के संपर्क में आए। उसके बाद वह घोर परिश्रम कर स्वामी विरजानंद तक पहुंचे। यह

घटनाक्रम हम आपको पहले ही बता चुके हैं कि वह किस प्रकार 1857 की क्रांति से जुड़ गए, न केवल जुड़े बल्कि इसे इस प्रकार प्रेरित किया कि कंपनी राज की नींव ही हिला डाली।

दयानंद पहले से ही जानते थे कि क्रांति सफल होने के अवयव अभी उपस्थित नहीं थे, फिर भी उन्होंने वह सब किया जो इसके प्रस्फुटन के लिए आवश्यक था। अपना कार्य पूरा करने और अज्ञातवास में रहने के बाद वह 1860 में एक बार फिर स्वामी विरजानंद के पास मथुरा पहुंचे, और इस बार उनका प्रयोजन वह था जिसके लिए उन्होंने गृहत्याग किया था। अपने गुरु के कहने पर उन्होंने सारे पूर्वज्ञान को विस्मृत कर दिया। क्रांति के बाद, अंग्रेजों के प्रतिशोध के कारण देश में अन्न की भयंकर कमी हो गई थी। ऐसी परिस्थिति का प्रभाव दयानंद पर भी पड़ा था और उन्हें अनेक अवसरों पर मात्र चने खाकर ही गुजारा करना पड़ा। सभी प्रकार के कष्ट झेलने के बाद भी उन्होंने अपने ध्येय का पालन करना नहीं छोड़ा। कुछ दयावान लोगों ने उनके लिए प्रकाश, ठहरने और पुस्तकों की व्यवस्था कर दी।

संन्यास की लालिमा, बुद्धि की श्रेष्ठता, परिश्रम की चमक और गुरु की गुरुता के कारण दयानंद दिन–प्रतिदिन अपने लक्ष्य की ओर अनवरत् बढ़ते रहे। विरजानंद बहुत कठोर गुरु थे, एक ही चीज को एक बार से अधिक नहीं पढ़ाते थे। यही कारण था अनेक शिष्य उन्हें छोड़कर चले जाते थे, लेकिन जो ललक दयानंद में थी, वह उसे पूरा करने के लिए किसी भी कठोरता को सहन करने को तैयार थे, और अंततः अपने ध्येय में सफल भी हुए। स्वयं विरजानंद ने उन्हें कहा था, "दयानंद, इस कुटिया में कितने ही शिक्षार्थी आए और गए, पर जो आनंद तुझे पढ़ाने में आता है, ऐसा आनंद कभी नहीं आया। तुम्हारी तर्क–शक्ति सराहनीय है। कुमतों का खंडन तुम्हारे द्वारा संभव है।"

दयानंद ने विरजानंद के पास लगभग ढाई वर्ष रहकर पढ़ाई की। जब गुरु–दक्षिणा का समय आया तो उनके पास देने को कुछ नहीं था, कुछेक लौंग को छोड़कर। इस पर गुरु ने कहा, "देश अज्ञान के अंधकार में डूबा हुआ है। कुरीतियों में फंसे लोग नरक–सा जीवन जी रहे हैं। अंधविश्वासः की जड़ें गहरी हो गई हैं। वैदिक ग्रंथों का पठन–पाठन, चिंतन–मनन विलुप्त हो गया है। विभिन्न मत–मतांतरों ने अपने पैर फैला लिए हैं जिससे समाज दुर्गति की ओर लुढ़कता जा रहा है। समाज को अधोगति से बचाओ। स्वयं

को लोक–कल्याण में समर्पित करो। सुप्त देशवासियों को जगाओ। यही मेरे लिए गुरु–दक्षिणा है।"

इसी आदेश का पालन करने को दयानंद उद्यत हो गए। उसके बाद नगर–नगर यात्रा करते, लोगों से चर्चा करते, अंधविश्वासों पर चोट करते, लोगों को सही मार्ग दिखलाते, वह अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते चले गए। उनसे प्रभावित होने वाले लोगों की संख्या लगातार बढ़ती रही। उन्होंने न केवल सामान्य लोगों से बात की, बल्कि अनेक विद्वानों से चर्चा की, शास्त्रार्थ किया और लोगों को सही ज्ञान से अवगत कराया। वह अनेक राजाओं के संपर्क में भी आए और उन्हें सही मार्ग दिखलाने का प्रयास किया। उनकी विद्वता के आगे सभी लोग नतमस्तक हो गए। उन्होंने न केवल हिन्दू धर्म में प्रचलित कुरीतियों के बारे में जनजागरण किया, बल्कि दूसरे धर्मों में उपस्थित अतार्किक बातों और कुरीतियों पर भी गहरी चोट की। वह केवल सत्य को कहना ही आवश्यक समझते थे, चाहे इससे किसी को ठेस ही क्यों न लगे। उनकी कठोर बातों के कारण उनके शत्रुओं की संख्या में भी बढ़ोत्तरी होने लगी।

दयानंद में अदम्य साहस कूट–कूट कर भरा था। एक बार अजमेर में वहां के राजा के सामने उसके अपने वल्लभ मत की कमियों को सामने लाने लगे तो राजा क्रोध में आ गया और उसने अपने साथियों को सभा में विघ्न डालने को कहा। बिना व्यग्र हुए दयानंद ने ललकार कर कहा, "मैं शास्त्रार्थ ही करना नहीं जानता, शस्त्रार्थ करना भी जानता हूं।" इसके बाद सभा से उपद्रवी चले गए।

अपने प्रचार को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने दो बार और कुंभ के मेले में भागीदारी की। आपको ध्यान होगा कि पहली बार उन्होंने 1855 में कुंभ में भाग लिया था। अपने अभियान में उन्होंने अनेक कुरीतियों पर भी चोट की, जैसे उन्होंने महिलाओं को गायत्री मंत्र के पाठ का अधिकार दिया और छुआछूत का विरोध किया।

एक बार कर्णवास में गंगा के मेले में करौली के रईस राव कर्णसिंह ने वहां रासलीला का आयोजन किया और दयानंद को भी आमंत्रित किया, लेकिन वह नहीं गए। इस पर कर्णसिंह उनसे नाराजगी जताने आया, लेकिन दयानंद ने रासलीला को निंदनीय कार्य कह दिया, जिस पर क्रोध में आते हुए कर्णसिंह ने अपनी तलवार निकाल ली। इस पर दयानंद ने उसकी कलाई पकड़कर तलवार छीन ली और उसके दो टुकड़े कर दिए।

एक अन्य अवसर पर भी कर्णसिंह ने दयानंद का जीवन लेना चाहा, लेकिन उसकी पोल खुल गई।

समय के साथ दयानंद ने अपने तर्कों और विद्वता के आधार पर अपनी धाक जमा ली। उनका व्यंग्य करने में भी कोई सानी नहीं था। एक बार कासगंज में जब एक विद्वान उनसे शास्त्रार्थ करने आया तो मंदिर के ऊंचे चबूतरे पर चढ़ बैठा और जब उसे कहा गया कि महात्माओं से ऊंचे स्थान पर विराजमान होना शोभा की बात नहीं है तो उसने कहा कि वह विद्वान था और निचले स्थान पर नहीं बैठ सकता था। इस पर दयानंद ने टिप्पणी की, "उसे वहीं बैठे रहने दीजिए। ऊंचाई पर बैठने से ही कोई विद्वान नहीं हो जाता और यदि हो जाता तो फिर सामने पेड़ की शाखा पर बैठा हुआ कौआ इनसे ज्यादा विद्वान है।" यह सुनकर बेचारा विद्वान लज्जित हो गया।

दयानंद की प्रसिद्धि और विचारों के प्रवाह के कारण उनकी हत्या की योजनाएं बनने लगी। वह जानते थे कि उनके शत्रुओं की संख्या में बेतहाशा वृद्धि हो रही है, इसलिए उन्होंने अपने विचारों को पुस्तकों के रूप में मूर्तरूप देना आरंभ कर दिया। 1875 तक वह अनेक पुस्तकें लिख चुके थे जिनमें *सत्यार्थ प्रकाश, बल्लभाचार्यमत–खंडन, स्वामी नारायणमत–खंडन* और *वेदांतध्वांत–निवारण* आदि सम्मिलित थीं। उन्होंने पहली बार 'आर्यसमाज' नाम बंबई में होने वाले सत्संग को दिया ताकि उनकी अनुपस्थिति में भी वहां सत्संग होता रहे और उनके विचारों की परिधि बढ़ती रहे। इसी वर्ष उन्होंने 'आर्यसमाज' नामक संस्था की स्थापना भी कर दी और इसके नियमों और अन्य पक्षों को स्पष्ट कर दिया। बाद में लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना के साथ उन्होंने इसके नियमों को संक्षिप्त कर दिया।

1875 में ही दयानंद ने पुणे में प्रवास किया जहां महादेव गोविंद रानाडे ने उनके प्रवचनों की व्यवस्था की। यहां उन्होंने कुल 15 व्याख्यान दिए और उनमें से पंद्रहवें में उन्होंने अपना जीवन–चरित कह सुनाया, जिसकी रिपोर्टिंग समकालीन समाचार–पत्रों में छपी। इस जीवन–चरित को पूरी तरह प्रामाणिक नहीं माना जाता है क्योंकि यह उनके प्रवचन की रिपोर्टिंग के आधार पर छपा था।

दयानंद से अनेक बार कहा गया कि वह अन्य धर्मों और पंथों के विरुद्ध कठोर वाणी का प्रयोग न किया करें, लेकिन वह किसी की प्रसन्नता या क्रोध से प्रभावित नहीं होते थे, और सदैव वही बोलते थे जो उन्हें सही

और सत्य प्रतीत होता था। वह कहते थे कि वह समालोचना करते हैं, आलोचना नहीं। इसके बावजूद जिनके विरुद्ध वह बोलते थे, उन्हें अवश्य ही बुरा लगता था। अपनी कठोर बातों की तुलना वह विरेचक औषधि से करते थे जिसके कारण जी मिचलाता है, घबराहट होती है, लेकिन शरीर से विषाणु निकल जाने के बाद अच्छा अनुभव होता है। यह बात भी सही है कि उन्होंने अपने तर्कों से अनेक लोगों को अपनी बात स्वीकार करने पर मजबूर कर दिया था।

अपने जीवनकाल के अंतिम पड़ाव में दयानंद ने मेरठ में परोपकारिणी सभा का भी गठन किया और पुस्तक–लेखन आदि के लिए जो संपत्ति एकत्र की थी, वह सब इसके नाम कर दी और इस सभा का अध्यक्ष उदयपुर नरेश राणा सज्जनसिंह को बना दिया। इसका मुख्यालय बाद में अजमेर में बनाया गया।

जब उन्हें जोधपुर के महाराजा यशवंतसिंह का न्यौता मिला तो उन्हें सलाह दी गई कि उन्हें वहां नहीं जाना चाहिए, लेकिन उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। ऐसी सलाह का कारण महाराजा का वेश्यागामी व्यवहार था और सबको ज्ञात था कि दयानंद सत्य कहे बिना मानेंगे नहीं, और इस कारण समस्या हो सकती थी, और यह हुई भी। महाराजा नन्हींजान नामक वेश्या के मोहपाश में थे, और दयानंद के कहने पर उन्होंने उससे दूरी भी बनाना आरंभ कर दिया, जो उस वेश्या को चुभ गई। अपने संसाधनों का प्रयोग करते हुए उसने दयानंद को धौलामिश्र नामक रसोइये के हाथ से संखिया पिलवा दिया। यह बात 29 सितंबर 1883 की है। इससे उनकी हालत दिनोंदिन बिगड़ती गई। उपचार के लिए उन्हें पहले माउंट आबू और बाद में अजमेर ले जाया गया। अंततः 30 अक्टूबर 1883 को उन्होंने इस नश्वर शरीर का त्याग कर दिया।

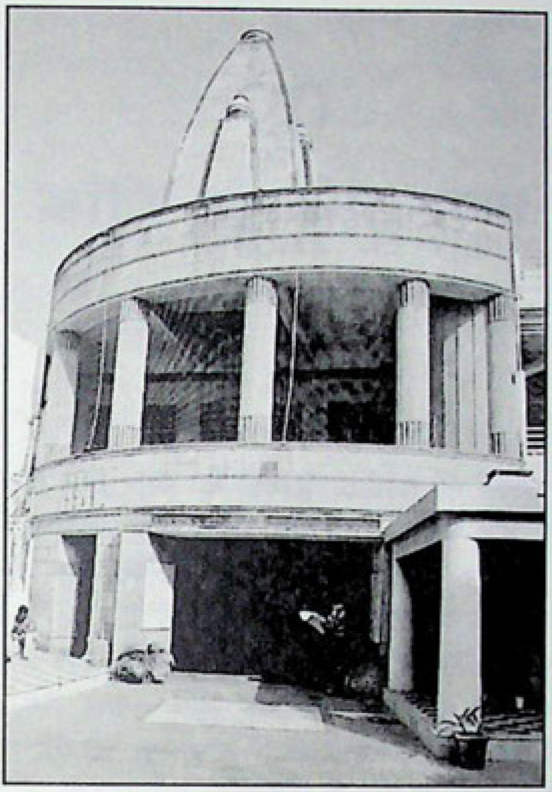

चित्रः विनय कोठी, अजमेर जहां दयानंद ने अंतिम श्वास ली।

दयानंद के जीवन की अनेक उपलब्धियां हैं जिनमें आर्यसमाज की स्थापना और समाज सुधार के कार्यों के अतिरिक्त उनकी अनेक पुस्तकों के बारे में हम सब जानते हैं, लेकिन हमने प्रयास करके 1857 की क्रांति में उनके योगदान को खोज निकाला है। हालांकि यह बात भी सत्य है कि क्रांति में उनके योगदान के बारे में अनेक संदेह तब तक बने रहेंगे जब तक कुछ और ठोस प्रमाण सामने नहीं आ जाते, तब तक हम भी प्रयासरत् रहेंगे ताकि इस तथ्य को और निश्चितता प्रदान कर सकें।

20

क्रांति की शेष गाथा

10 मई 1857 को मेरठ में सिपाही अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़े हुए और उन्होंने दिल्ली की ओर कूच कर दिया ताकि इसे राष्ट्रीय स्तर पर फैलाया जा सके। 87–वर्षीय बहादुरशाह जफर को 11 मई को अपना नेता बनाने के बाद 12 मई को सिपाहियों ने दिल्ली को अपने अधिकार में कर लिया। पांच दिनों तक हिंसा चलती रही। जहां कहीं देशी सिपाही अंग्रेजों को घेरते, आमलोग अपने घरेलु हथियार लेकर ही अंग्रेजों के विरुद्ध आ डटते। अनेक जगहों पर नागरिकों ने स्वयं ही क्रांति आरंभ की और सिपाही वहां बाद में पहुंचे। कई जगह नागरिकों ने पूरा मोर्चा स्वयं ही संभाला और सिपाही उन जगहों पर कभी पहुंचे ही नहीं। सभी लोग एक ही उद्देश्य के साथ उठ खड़े हुए थे कि सारा देश एक सूत्र में बंध जाए और अत्याचारी अंग्रेजों को देश से मार भगाया जाए। अंग्रेज पीछे हटते जा रहे थे लेकिन साथ ही यह कहना नहीं भूल रहे थे – "शहनशाह–ए–आलम, दिल्ली से पालम।" यह बात गलत भी नहीं थी क्योंकि मुगल राज अंतिम सांसे ले रहा था और अनेक दशकों से दूसरी शक्तियों की दया पर निर्भर था।

बहादुरशाह जफर को बादशाह घोषित करना शायद गलती भी थी। अपनी बढ़ती आयु और सीमित संसाधनों के कारण वह सिपाहियों और आमजनों को प्रभावी नेतृत्व नहीं दे पा रहा था। इसी कारण, शाही परिवार में कुटिल योजनाएं बननी आरंभ हो चुकी थीं, जिसके कारण सिपाहियों में अनिश्चितता का वातावरण बन गया था। वह प्रेरक नेतृत्व प्रदान करने में भी अक्षम था, और उसकी आवाज पर पूरा देश उठ खड़े होने को तैयार नहीं था। सिखों को प्रतीत हुआ कि उसे क्रांति का नेतृत्व सोंपने का अर्थ था मुगल शासन की वापसी, जिससे उन्हें बहुत कड़वे अनुभव थे क्योंकि उनके गुरुओं का मुगलों से टकराव हुआ था। इसके अतिरिक्त, सिखों

द्वारा अंग्रेजों का पक्ष लेने का मुख्य कारण था कि मात्र आठ वर्ष पहले दूसरे आंग्ल–सिख युद्ध में अपनी हार का ठीकरा वे अंग्रेजों पर न फोड़कर उन 'पुरबियों' को दोषी मानते थे जो बंगाल सेना का मुख्य भाग थे जिनके बल पर ही अंग्रेजों ने पंजाब पर कब्जा किया था, और जो इस समय क्रांति के मुख्य घटक थे। इसलिए वे क्रांति से नहीं जुड़े, इसके विपरीत उन्होंने अंग्रेजों की इस क्रांति में विजय की नींव डाल दी। पंजाब में अंग्रेजों को संसाधन और सिपाही दोनों के रूप में सहायता उपलब्ध हुई। अंग्रेजों ने बहुत कठिनता से और आमलोगों पर अत्याचारों से ही अपनी विजय सुनिश्चित की थी।

उस समय रेल यातायात का प्रमुख साधन थी और टेलीग्राफ संचार का मुख्य साधन। ये दोनों ही अंग्रेजों के अधिकार में थे। इस कारण, मेरठ में होने वाली क्रांति का समाचार अन्य स्थानों पर पहुंचने में समय लगा।

मेरठ में जिस प्रकार अंग्रेज हक्के–बक्के रह गए थे, लोगों को महसूस हुआ कि वे अजेय नहीं थे। यह बात सिद्ध थी कि उनकी ताकत का मुख्य स्रोत देशी सिपाही ही थे, जिनके विद्रोह कर देने पर अंग्रेजों को पीछे हटना पड़ रहा था। यह तथ्य आमलोगों को प्रेरणा दे रहा था। अब वे उत्साह के साथ अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़े होने की योजना बना रहे थे। संगठन में शक्ति होती है, इस बात का पूरा विश्वास लोगों को हो चुका था। इसके साथ–साथ संसाधनों की भी आवश्यकता थी, जो इतनी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध नहीं थे। किसी भी युद्ध या क्रांति का उत्साह बिना आपूर्ति लंबे समय तक बनाए नहीं रखा जा सकता।

क्रांति करने की भावना के साथ–साथ निजी और स्थानीय हित भी साधे जा रहे थे। यही कारण था कि इतने विशाल क्षेत्र में घटित होने के बाद भी यह राष्ट्रीय स्वरूप नहीं ले पा रही थी। सारे देशवासी भी इसके पक्ष में नहीं थे। अनेक लोगों, जमींदारों और देशी राजाओं ने अपने स्वार्थी हितों के कारण अंग्रेजों का साथ दिया। कुछ जगह क्रांति की ज्वाला इतनी तीव्र थी कि उसके आगे सबकुछ फीका–सा महसूस हो रहा था। अन्य स्थानों में यह नाममात्र की ही रह गई थी। कुछ स्थानों पर पूरी शांति ही बनी रही।

आरंभिक झटके से उभरने के बाद अंग्रेजों ने क्रांतिकारियों को दबाने की योजना बनानी आरंभ की। उन्होंने कभी अनुमान नहीं लगाया था कि देश के सभी वर्गों के लोग उनके विरुद्ध इतने कम समय में उठ खड़े होंगे। जहां कहीं छिटपुट विद्रोह हुआ, उसे उन्होंने कड़ाई के साथ कुचल

दिया, जैसा पंजाब में हुआ। अमृतसर, अंबाला सहित अनेक स्थानों पर ऐसी सामूहिक कब्रें मिली हैं जो अंग्रेजों की क्रूरता व बर्बरता की परिचायक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक सिपाहियों और अन्य लोगों को जिंदा ही दफन कर दिया गया था। बहुत लोग ऐसा मानते हैं कि पंजाब में क्रांति नहीं हुई। वहां क्रांति अवश्य हुई, बस उसका विस्तार सीमित था और यहां यह जन–आंदोलन का रूप नहीं ले पाई। जिन प्रांतों में क्रांति का विस्तार अधिक था, वहां अंग्रेजों ने मानवीयता को शर्मसार करते हुए ऐसे कुकृत्यों को अंजाम दिया कि भारतीयों के दिल हमेशा के लिए उनके प्रति घृणा से भर गए।

क्रांतिकारियों द्वारा दिल्ली पर अधिकार करने के बाद देश के अन्य भागों में क्रांति के उफान के बाद अंग्रेज भी मानसिक रूप से तैयार हो अब योजना बना रहे थे कि दिल्ली को वापस अपने अधिकार में किस प्रकार लाया जाए, क्योंकि यह एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक दबाव था, हालांकि उनकी राजधानी अभी भी कलकत्ता ही थी।

इसी समय देश के विभिन्न भागों से क्रांति होने के समाचार आने लगे। जून के प्रथम सप्ताह तक लगभग पूरे उत्तर प्रदेश और बिहार के अतिरिक्त मध्य भारत में हथियार उठ चुके थे। संचार माध्यमों पर अंग्रेजों का अधिकार होने के कारण मेरठ–दिल्ली में हुई क्रांति की सूचना अन्य स्थानों पर पहुंचने में समय लगा होगा। जिन स्थानों पर विद्रोह आरंभ हुआ उनमें मुख्य थे बरेली, कानपुर, लखनऊ, बनारस, बिहार के अनेक स्थान और राजपुताना। अंग्रेजों के लिए राहत की बात यह थी कि दक्षिण भारत और उत्तर–पूर्व भारत छिटपुट घटनाओं को छोड़कर लगभग पूरी तरह शांत बना रहा। पश्चिमी भारत भी कोल्हापुर को छोड़कर लगभग पूरी तरह शांत था। अंग्रेज भी अब सजग हो चुके थे। जहां कहीं से जरा–सी भी सुगबुगाहट का समाचार आता, वे इसे पूरी निर्ममता के साथ दबा देते।

कुछ रियासतों ने अंग्रेजों का खुलेआम साथ दिया जिनमें कश्मीर, हैदराबाद, भोपाल, नेपाल आदि सम्मिलित थीं। कुछ स्थानों पर यह क्रांति घनघोर थी जैसे कानपुर, लखनऊ, दिल्ली और बिहार, जिन्हें अपने अधिकार में लेने के लिए अंग्रेजों को विशेष प्रयत्न करने होंगे। कुछ ऐसे स्थान थे जहां सिपाहियों की अनुपस्थिति में केवल स्थानीय नेतृत्व के सहारे ही आमजनों ने क्रांति को आगे बढ़ाया, ऐसे स्थानों में मेरठ क्षेत्र का नाम सिरमौर है जहां अनेक गांवों में क्रांति की ज्वाला में इतनी आहुतियां डाली गई जिनकी गिनती भी न हो सकती थी।

दिल्ली

11 मई 1857 को मेरठ के सिपाहियों के दिल्ली पहुंचने पर वहां स्थित देशी टुकड़ियां भी उनके साथ आ मिलीं। अगले पांच दिनों तक दिल्ली पर अधिकार करने के लिए उनके अंग्रेजों से अनेक संघर्ष हुए। इस अवधि में अंग्रेजों की हालत पतली थी, उनके अधिकारी और अन्य लोग मारे जा रहे थे। सिपाहियों के साथ–साथ आमलोग भी उनके विरुद्ध उठ खड़े हुए थे, जिसके कारण उनकी स्थिति और भी खराब हो चुकी थी। दिल्ली पर पकड़ ढीली होते ही अंग्रेजों ने पश्चिम दिशा में 'रिज' कहे जाने वाले पहाड़ी क्षेत्र पर अपना डेरा डाल लिया और वापस दिल्ली पर अधिकार करने की योजना बनाने लगे। यह स्थान उनके लिए बहुत अनुकूल था क्योंकि यमुना नदी की सुरक्षा, तोपों को तैनात कर दूर तक मार करने की ऊंचाई और पश्चिमोत्तर दिशा से आपूर्ति की संभावना आदि तथ्य उनके पक्ष में थे, क्योंकि इस दिशा में पंजाब स्थित था और वहां विद्रोह नहीं हुआ था और सिख सिपाही उनके पक्ष में थे।

दिल्ली पर कब्जा करने के लिए अंग्रेजों ने अनेक बार धावा बोला, लेकिन उसका लाभ नहीं हुआ। क्रांति के और क्षेत्रों में फैलने के कारण वहां देशी सिपाहियों की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही थी। बागी सिपाही भी अंग्रेजों पर अनेक बार धावा बोलकर उन्हें लगातार नुकसान पहुंचा रहे थे। आराम और सुविधाओं की जिंदगी के अभ्यस्त अंग्रेजों को अब तंबुओं में रहना पड़ रहा था। मिनट–दर–मिनट कर घंटे, दिन और सप्ताह बीत रहे थे, लेकिन परिस्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आ रहा था। अगस्त का महीना आरंभ हो चुका था। दिल्ली पर उनका अधिकार न होने के कारण उनका सम्मान भी दांव पर था। दिल्ली के बाहरी क्षेत्र में रहते हुए और अत्यधिक दबाव को झेलने के बाद भी उनके पास दिल्ली को वापस पाने की संभावना थी। यदि यह इलाका छोड़ दिया जाता तो उनका पंजाब से पूरी तरह संपर्क टूट जाता और क्रांति को दबाने का विचार भी धरा का धरा रह जाता।

अंग्रेज अब अपने सैनिक बंदोबस्त को सही करने का प्रयास कर रहे थे। जहां कहीं से संभव हुआ, वे दिल्ली में अपनी ताकत बढ़ाने की पुरजोर कोशिश कर रहे थे। न केवल भारत के अन्य स्थानों से, बल्कि हाल में समाप्त हुए क्रीमिया युद्ध से भी टुकड़ियों को भारत लाने का प्रयास हुआ। दिल्ली में उन्हें उस समय पर्याप्त राहत मिली जब शिमला और मेरठ से सेना के दो कॉलम उनसे आ मिले। इन्होंने अपने मार्ग में पड़ने वाले गांवों

पर भारी अत्याचार किए, लूटपाट की और सैकड़ों की संख्या में लोगों को मार डाला। इन टुकड़ियों का मुख्य भाग गोरखा सिपाहियों का था जो नेपाल के राजा की ओर से संविदा पर आए थे और उनमें भारत में हो रही जनक्रांति के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। इसी टुकड़ी ने दिल्ली में आकर बदली–की–सराय में क्रांतिकारी सिपाहियों से युद्ध लड़ा और उन्हें हराया। इसके कारण क्रांतिकारी दिल्ली में ही सीमित होकर रह गए, हालांकि उन्हें आगरा आदि स्थानों से अभी भी मदद मिल रही थी। इसके साथ ही, अंग्रेजों ने दिल्ली पर घेरा डाल दिया, लेकिन क्रांतिकारी सिपाहियों की अधिक संख्या के कारण ऐसा प्रतीत होता था कि उन्होंने ही यह घेरा डाला हुआ था। दोनों पक्ष एक–दूसरे पर चोरी–छुपे धावा बोलकर कुछ हानि पहुंचाते थे। इस प्रकार के छोटे धावों का महत्त्व सैनिक रूप से विशेष अधिक नहीं होता, लेकिन ये विरोधी सेना के मनोबल को गिराने का काम करते हैं क्योंकि उन्हें लंबे समय तक सावधान रहना पड़ता है जो उनके प्रशिक्षण और तैयारी को प्रभावित करता है।

बख्त खान के बारे में भी जानना उचित होगा। वह बरेली में बंगाल सेना में सूबेदार के पद पर तैनात थे और उन्हें अंग्रेजी ढंग से जीवन जीना पसंद था। मेरठ में क्रांति होने पर भी उनकी इसमें कोई रुचि नहीं थी। लोगों के जोर देने और अंग्रेजी अत्याचारों को देखने के बाद उन्होंने भी विद्रोह कर दिया और बरेली में विद्रोहियों की कमान संभाल ली। 11 जून को बख्त खान ने अपनी सेना के साथ दिल्ली कूच किया और 2 जुलाई को वहां बहादुरशाह जफर ने उनका स्वागत किया और 'साहिब–ए–आलम' का खिताब देकर मुख्य सेनाध्यक्ष या कमांडर–इन–चीफ नियुक्त कर दिया। ऐसा कहा जाता है कि वह अपने साथ ढेर सारी संपत्ति और चार लाख रुपए भी लाए थे, जिनके कारण उन्हें सम्मान दिया गया, क्योंकि देशी सिपाहियों को वेतन आदि न मिलने के कारण वे शहर में लूटपाट कर रहे थे, जिसके कारण उनके लिए नागरिक समर्थन कम होता जा रहा था।

बख्त खान को यह भी ज्ञात हुआ कि शहर में होने वाली लूटपाट में शहजादों का हाथ था, इसलिए उन्होंने इसे रोकने के सख्त आदेश दिए। इस पर गुटबाजी हावी होने लगी। शहजादों ने उन पर पाबंदी लगाने की कोशिश भी की, लेकिन उनकी लोकप्रियता के साथ–साथ उनकी सेना का आकार भी बढ़ने लगा। 9 जुलाई को उन्होंने तीस हजारी पर अधिकार कर लिया जो उनकी पहली बड़ी जीत थी। लेकिन ईर्ष्या और घमंड के कारण गुटबाजी अधिक होती जा रही थी। न केवल यह, हिन्दू–मुस्लिम

एकता को तोड़ने के षड्यंत्र भी हो रहे थे और इस बारे में प्रयास संभवतः अंग्रेजों के जासूस कर रहे थे जो हर जगह फैले हुए थे। यही कारण था कि जुलाई में पड़ने वाले 'बकर–ईद' के त्यौहार पर बख्त खान ने गौहत्या को प्रतिबंधित कर दिया और ऐलान किया कि यदि कोई भी गाय, बैल या भैंस की हत्या करेगा तो वह बादशाह का दुश्मन समझा जाएगा और मौत की सजा का हकदार होगा। गुटबाजी उस समय सबसे अधिक उभर कर आई जब 24 अगस्त को नजफगढ़ के रास्ते से अलीपुर के पार की पहाड़ियों पर डेरा डाले अंग्रेजों पर हमला करना था। यह हमला दो सेनाओं को करना था जिनमें से एक का नेतृत्व बख्त खान के पास था, लेकिन दोनों सेनाओं ने साझी योजना के तहत काम नहीं किया, इससे दूसरी (नीमच की) सेना को बड़ी हानि उठानी पड़ी और बख्त खान को पीछे हटना पड़ा। इस गुटबाजी से क्रांतिकारी सेना कमजोर होने लगी थी, जबकि अंग्रेजों की सेना मजबूत होती जा रही थी।

इस बीच क्रांतिकारी सेना भी अपने को मजबूत करने के सारे उपाय कर रही थी। उन्होंने उखली तोपों का निर्माण भी आरंभ कर दिया था और उनके लिए सादे गोले–बारूद पर भी काम चल रहा था। दूसरी ओर, अंग्रेजों का अपने अधिकारियों पर से विश्वास टूट रहा था, उनके कमांडर मारे जा रहे थे, और यही वह समय था जब कलकत्ता मुख्यालय ने क्रांति को दबाने के लिए जॉन निकल्सन को भेजा। वह 14 अगस्त को अपने सिख, पख्तून और यूरोपियन सैनिकों के साथ यहां पहुंच गया। उनकी बढ़ती ताकत का अनुमान देशी सिपाहियों को हो गया था और उन्हें अपनी पराजय सामने दिखाई देने लगी, जिसके कारण वे संधि करने को भी तैयार हो गए, लेकिन क्रूर अंग्रेज इसे स्वीकार करने के इच्छुक नहीं थे। वे बदला लेना चाहते थे, वह भी पूरी क्रूरता के साथ।

7 सितंबर से अंग्रेजों ने दिल्ली पर आक्रमण करना आरंभ किया। उनकी गरजती तोपों ने क्रांतिकारियों पर कहर ढाना शुरु कर दिया। जब उन्होंने जमीनी हमला आरंभ किया, उन्हें कुछ सफलता अवश्य मिली लेकिन जॉन निकल्सन समेत उनकी बड़ी जनहानि हुई। उन्हें शहर में अपने पैर जमाए रखने में कड़ी मेहनत करनी पड़ रही थी। अंग्रेज कमांडर विल्सन पीछे हटना चाहता था, लेकिन उसके कनिष्ठ अधिकारियों ने उसे वहीं बने रहने का अनुरोध किया। एक सप्ताह की लड़ाई के बाद अंग्रेज लाल किला पहुंच गए, जिसके कारण बहादुरशाह जफर को लाल किला छोड़कर हुमायुं के मकबरे में शरण लेनी पड़ी जहां उसे हिरासत में ले लिया गया।

बख्त खान ने बहादुरशाह को अपने साथ चलने की सलाह दी थी, जो उसने नहीं मानी। बाद में बहादुरशाह को निर्वासित कर रंगून (बर्मा) भेज दिया गया जहां उसकी मृत्यु 1862 में हो गई। उसके दो शहजादों और एक पोते की हत्या विलियम हडसन ने खूनी दरवाजे पर कर दी। इसी के साथ मुगल वंश का पूरी तरह पतन हो गया। अंग्रेजों का दिल्ली पर अधिकार हो गया। बख्त खान बची–खुची सेना को लेकर अवध की ओर रवाना हो गए, जहां उन्हें अभी भी क्रांति में और कार्य करना था। उन्होंने वहां 16 मार्च 1858 को होने वाली जंग में भाग लिया था जिसमें अनेक सिपाहियों के साथ–साथ तोपों का भी नुकसान हुआ। उनकी मृत्यु शायद 13 मई 1859 को हुई, लेकिन इसके बारे में अनेक भ्रांतियां हैं।

दिल्ली पर अधिकार के लिए अंग्रेजों को हर गली पर अधिकार के लिए कड़ी मेहनत करनी पड़ी थी जिसमें उनके सैकड़ों सैनिक और अधिकारी खेत रहे थे। इसका प्रतिशोध लेने के लिए उन्होंने शहर में अत्याचार और लूटपाट आरंभ कर दी। जिस नृशंसता के साथ उन्होंने आम नागरिकों का वध किया, उससे दुखी होकर प्रसिद्ध शायर गालिब कह उठा कि उसके सामने खून का दरिया है, न जाने अभी उसे देखने को क्या–क्या मिलेगा।

कानपुर

1857 में कानपुर अंग्रेजों की बड़ी छावनी थी और देशी सिपाहियों की एक डिवीजन का मुख्यालय था, जिसके अंतर्गत तीन पैदल सेना (पहली, 53वीं और 56वीं) के अतिरिक्त दूसरी बंगाल घुड़सवार सेना स्थित थी। यहां का कमांडर जनरल हुज व्हीलर था जिसने भारतीय परंपराओं को अपना लिया था और एक भारतीय महिला से विवाह किया था। वह सिपाहियों के बीच लोकप्रिय था, और उसने उन पर अपना विश्वास भी जमा रखा था, जिस कारण उसे यहां किसी विद्रोह का अंदेशा नहीं था। यहां भी सूचना थी कि 31 मई को क्रांति करनी थी। मेरठ में होने वाली क्रांति का समाचार यहां मई माह के मध्य में पहुंचा, जिसके बाद देशी सिपाहियों ने परिवारों को अपने गांव भेजना शुरु कर दिया। अंग्रेजों को भी अब तक अंदेशा हो चुका था कि क्रांति की तारीख अनुमानतः 31 मई निश्चित की गई थी। इसके विपरीत, व्हीलर को अपने देशी सिपाहियों पर विश्वास था। साथ ही, उसे लगता था कि यदि सिपाही विद्रोह कर भी बैठें तो वे दिल्ली की ओर कूच कर जाएंगे, जैसा उन्होंने मेरठ और अन्य स्थानों में किया था। इसलिए उसका विचार था कि उसे केवल आरंभिक क्रांति के लिए सुरक्षा प्रबंध करने हैं, और यह करने के लिए उसने नगर की

दक्षिणी दिशा में कच्ची चारदीवारी से घिरी एक इमारत के भीतर अन्न, शस्त्र, तोप और गोला–बारूद के साथ–साथ सभी अंग्रेजों और उनके परिवारों के निवास व भोजनादि की व्यवस्था कर दी और आदेश दे दिया कि किसी भी विद्रोह की अवस्था में सभी को उसमें शरण लेनी है। सामरिक रूप से यह निर्णय अच्छा नहीं कहा जा सकता, विशेषकर जब उसके पास नगर की उत्तरी दिशा में स्थित सब सुविधाओं से लैस मैगजीन (तोपखाना) थी। वह इतना आश्वस्त था कि उसने क्रांतिकारी सिपाहियों द्वारा घिरे हुए लखनऊ की सुरक्षा के लिए अपनी दो कंपनियां तक भेज दीं। उसके लिए यह भी राहत की बात थी कि नानाजी पेशवा भी उसके पक्ष में प्रतीत हो रहे थे और उसने उन्हीं को अपनी सुरक्षा के लिए आमंत्रित किया, जिसके बाद नाना ने तीन सौ सैनिकों, दो तोपों और अन्य लोगों के साथ कानपुर में प्रवेश किया।

30 मई 1857 को आरंभ में मामूली विद्रोह हुआ और अगले दिन कानपुर के निकट फतेहगढ़ में गंगा के किनारे सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया जिसे दबाने के लिए व्हीलर ने अपनी एक कंपनी भेजी, लेकिन वहां तीन अंग्रेज अधिकारी मारे गए जबकि एक अंग्रेज सुरक्षित निकल भागा। इसके बाद भी कानपुर में देशी पल्टनें शांत बनी रही, लेकिन घबराहट में सभी यूरोपियन अपने लिए सुरक्षित बनाई गई इमारत में चले गए और तोपों की तैनाती कर दी, जिसे देशी सिपाहियों ने अपने लिए खतरा माना।

2 जून को एक अंग्रेज सैनिक ने शराब के नशे में एक देशी सिपाही पर गोली चला दी, लेकिन उसे सजा देने के स्थान पर अगले ही दिन उसे निर्दोष करार दिया गया। इससे देशी सिपाहियों में असंतोष फैल गया, जिसके साथ अफवाहों का बाजार गरम हो गया, जैसे सभी देशी सिपाहियों को परेड ग्राउंड में खड़ा कर उनका संहार कर दिया जाएगा आदि।

तनाव फैलने के बाद भी शांति बनी रही। कानपुर में पहला बड़ा विद्रोह 5 जून की दोपहर को दूसरी घुड़सवार सेना ने किया जब उन्होंने अपने अधिकारी रिसालदार–मेजर भवानीसिंह की अंग्रेजों के प्रति निष्ठा के कारण हत्या कर दी। अन्य पैदल इकाईयां अंग्रेजों के प्रति वफादार थीं लेकिन गोलियों की आवाज ने उनमें व्यग्रता फैला दी और इसे विद्रोह समझा और उन पर तोपों का मुंह खोल दिया गया।

इस बीच, 53वीं देशी सेना के लगभग 150 सिपाहियों ने विद्रोह नहीं किया था और वे मैगजीन की सुरक्षा में थे। जब नाना साहब अपने सैनिकों के साथ मैगजीन में आए तो उन्होंने उनका स्वागत किया क्योंकि उन्हें

लगा कि नाना साहब अंग्रेजों के प्रति निष्ठावान थे। भीतर आने के बाद नाना साहब ने तोपखाने पर नियंत्रण करने के बाद घोषणा की कि वह भी अंग्रेजों के विरुद्ध थे। वहां खजाने और तोपखाने को लेकर वह ग्रांड ट्रंक रोड पर चले। ऐसे समय में उनके सचिव अजीमुल्ला खां ने उन्हें सलाह दी कि यदि वह दिल्ली कूच करेंगे तो वह बहादुरशाह जफर के अधीन होंगे और उनके पास अवसर था कि वह स्वयं मराठा साम्राज्य की स्थापना करें। इसी के साथ नाना साहब ने कानपुर को अपने अधीन करने का निश्चय किया और लौट गए। वहां उनकी भेंट विद्रोही सिपाहियों से हुई जो भी उनके साथ मिल गए। इस प्रकार आप देख सकते हैं कि जब उद्देश्य समान न हों तो विफलता सुनिश्चित हो जाती है, और अब यही होने वाला था।

6 जून को नाना साहब ने अंग्रेजों के सुरक्षित दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। यह जानना रोचक होगा कि पिछली रात को ही उन्होंने अंग्रेजों को विनम्र पत्र लिखकर अपने इस विचार से अवगत करा दिया था, जिसे उन्होंने गंभीरता से नहीं लिया था। इसके बाद देशी सिपाहियों का खुला विद्रोह हो गया और वे भी सभी नाना साहब के साथ आ मिले। इस प्रकार, 10 जून तक नाना साहब के अधीन लगभग 10,000–15,000 देशी सिपाही थे।

उधर दुर्ग में अंग्रेजों की हालत पतली थी। उसमें सैनिकों, व्यापारियों, सहायकों और परिजनों सहित लगभग 1,000 लोग थे। पानी की कमी थी, भोजन तेजी से कम हो रहा था, पेचिश और हैजा फैल रहा था जिससे लोग मरने लगे थे। ऊपर से नाना साहब की तोपें आग बरसा रही थीं। उनके लिए केवल यही संतोष की बात थी कि देशी सिपाहियों ने जमीनी हमला नहीं बोला था। 21 जून तक लगभग एक–तिहाई अंग्रेज जान गंवा चुके थे और घायलों की संख्या भी बड़ी थी। केवल तोपखाने के कारण उन पर अभी तक भी प्रभावी जमीनी आक्रमण नहीं हो पाया था। व्हीलर लगातार लखनऊ को सैनिक मदद भेजने की गुहार लगा रहा था, लेकिन वहां तो उनकी अपनी हालत भी खराब थी।

23 जून को प्लासी के युद्ध की सौवीं सालगिरह के अवसर पर नाना साहब ने पूर्ण विजय पाने के लिए जमीनी हमला बोला, लेकिन दुर्ग के भीतर जाने में विफल रहे। अब तक अंग्रेजों की स्थिति बहुत चिंताजनक हो चुकी थी जो हमलों और बीमारियों के कारण बुरी होती जा रही थी। वे वहां से किसी प्रकार सुरक्षित निकल जाना चाहते थे, जो नाना साहब की अनुमति बिना संभव नहीं था। संयोग से, 24 जून को नाना साहब ने

एक यूरोपियन कैदी को दूत बनाकर व्हीलर के पास भेजा और उन्हें वहां से इलाहाबाद की ओर सुरक्षित निकाल देने का प्रस्ताव दिया, जो उसने स्वीकार कर लिया।

इस युद्ध में महिलाओं ने भी भाग लिया था। एक तवायफ अजीजन बाई घोड़े पर सवार होकर युद्ध के मैदान में आ डटी थी। उसने सिपाहियों की भोजन आदि से सेवा भी की थी। अंत में, उसे जनरल हैवलॉक ने मृत्युदंड दिया था।

27 जून को एक भयंकर घटना घटी जिसने चारों ओर कड़वाहट का साम्राज्य स्थापित कर दिया। व्हीलर द्वारा प्रस्ताव स्वीकृत होने पर नाना साहब ने सतिचौरा घाट पर चालीस नावों का प्रबंध कर दिया और उन पर भोजनादि की व्यवस्था भी की। साथ ही, उन्होंने अंग्रेजों, उनके परिजनों और अन्य घायल और बीमार लोगों के लिए भी पालकियों, हाथियों और बैलगाड़ियों की व्यवस्था कर दी। उन्हें अपने साथ हलके हथियार भी ले जाने की अनुमति दी गई।

सुबह 8 बजे अंग्रेज गंगा तट पर पहुंच गए। देशी सिपाहियों के अतिरिक्त काफी नागरिक भी यह सब देखने आ गए थे। उस समय घाट पर पानी कम होने के कारण नावों को पानी में उतारने की समस्या आ रही थी। तभी एक बिगुल की ध्वनि गूंज उठी, जिसके साथ नावों के मल्लाह पानी में कूदकर तट की ओर तैरने लगे। तभी नावों पर कुछ गोले आ लगे और कुछ में आग लग गई। अंग्रेज भी हड़बड़ा गए थे और उन्होंने अपने हथियारों से गोली चलाना आरंभ कर दिया। इसके बाद देशी घुड़सवार पानी में उतर गए और अंग्रेज सैनिकों को मारने लगे।

नाना साहब को जब इसकी सूचना मिली तो वह तुरंत वहां आए और आदेश दिया कि महिलाओं और बच्चों को कोई हानि न पहुंचाई जाए, और उन्हें बंदी बना लिया गया। केवल चार अंग्रेज सैनिक ही वहां से जान बचाकर निकल सके। दो अन्य अंग्रेज लड़कियों के बच जाने की बात भी कही जाती है। एक अन्य नाव पर कुछ अंग्रेज निकल भागे थे लेकिन उनमें से कुछ मारे गए और शेष 12 को बंदी बनाकर सवादाघर लाया गया जहां उनकी हत्या कर दी गई। बाद में सभी बंदियों को बीबीघर ले जाया गया। जो चार अंग्रेज सैनिक अपनी जान बचा पाए थे, उनमें से एक कैप्टेन थॉमसन ने ही यह सब आंखों–देखा विवरण अपनी पुस्तक *The Story of Cawnpore* (कानपुर की कथा) में लिखा।

बीबीघर में कुल बंदियों की संख्या लगभग 200 महिलाएं व बच्चे थे। हैजा और पेचिश के कारण भी मौतें हो रही थीं। अंग्रेजों ने जनरल हेनरी हैवलॉक के नेतृत्व में बड़ी सेना कानपुर पर अधिकार करने के लिए भेजी। नाना साहब का विचार था कि वह बंदियों को छोड़ने के बदले इस सेना को इलाहाबाद में ही रुकने के लिए मना लेंगे, लेकिन ऐसा न हो सका। इसकी बढ़त रोकने के लिए नाना साहब की सेना 12 जुलाई को फतेहपुर में जा टकराई, लेकिन विजय हैवलॉक की हुई। 15 जुलाई को एक और टकराव अवंग गांव के निकट हुआ जिसमें भी नाना साहब को हार का मुंह देखना पड़ा।

15 जुलाई को ही नृशंस हत्याकांड हुआ। बीबीघर में उपस्थित सभी बंदियों को मारकर निकट के कुएं में डाल दिया गया। यह किसके आदेश पर हुआ, इस बारे में इतिहासकार सहमत नहीं हैं। लगता है नाना साहब की इसमें सहमति नहीं थी, लेकिन परिस्थितियां ऐसी थीं कि वह इसमें कुछ कर सकने में असमर्थ थे। अंग्रेजी सेना कानपुर की ओर बढ़ते हुए मार्ग में पड़ने वाले सभी गांवों में भयंकर लूटपाट, बलात्कार और हत्याकांड को अंजाम देती आ रही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि बीबीघर हत्याकांड इसी के बदले हुआ। अंग्रेजों ने कानपुर पर अधिकार करने के बाद प्रतिशोधस्वरूप ऐसा भयंकर हत्याकांड किया जिसे सुनकर आत्मा तक कांप उठे।

चित्रः बीबीघर के कुएं पर बना स्मारक जिसे अब मेमोरियल चर्च, कानपुर में स्थानांतरित कर दिया गया है।

कानपुर में इस क्रांति के नेताओं के बारे में बताना भी उचित होगा। तात्या टोपे ने नवंबर 1857 में एक सेना संगठित कर कानपुर पर आक्रमण किया, लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली। इसके बाद वह रानी लक्ष्मीबाई के साथ जा मिले। नाना साहब के बारे में अनिश्चितता है। यह विश्वास किया जाता है कि वह नेपाल चले गए और 1859 में उनकी वहीं मृत्यु हो गई। यह भी कहा जाता है कि इस समय वह नर्मदा को पार कर दक्षिण भारत में क्रांति की अलख जगाने का प्रयास कर रहे थे और इसमें स्वामी दयानंद उनकी सहायता कर रहे थे, लेकिन यह बात केवल अनुमान के आधार पर ही है और कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष साक्ष्य इस संबंध में उपलब्ध नहीं है। केवल एक अस्पष्ट साक्ष्य इस बारे में इतना ही है कि इस समय स्वामी दयानंद नर्मदा तट पर अज्ञातवास कर रहे थे जिसकी कोई पुष्टि नहीं हो सकी है।

लखनऊ

क्रांति से मात्र एक वर्ष पहले 1856 में अंग्रेजों ने मनघड़ंत आरोप लगाकर अवध पर अधिकार कर लिया और नवाब वाजिद अली शाह को लखनऊ से निष्कासित कर कलकत्ता भेज दिया। इस कारण उठने वाले असंतोष के परिणामस्वरूप उन्हें यहां सबसे अधिक विरोध का सामना करना पड़ा। न केवल लखनऊ में, बल्कि पूरे अवध में, जिसमें इटावा, फतेहगढ़, फैजाबाद, अंबरपुर, कासगंज, मैनपुरी, उन्नाव आदि ऐसे अनेक स्थान थे जहां देशी लोगों और सिपाहियों की बहुत छोटी संख्या के बाद भी साहस, पराक्रम और सामरिक–नीति के ऐसे उदाहरण देखने को मिले कि स्वयं अंग्रेजी लेखकों ने उनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

लखनऊ में चिनहट के युद्ध में पराजित होने के बाद कमीश्नर सर हेनरी लॉरेंस ने अपनी रक्षा के लिए रेजिडेंसी में तोपें आदि लगाकर मजबूत किलेबंदी कर दी। देशी सिपाहियों ने यहां आक्रमण तो किया, लेकिन वे इसमें प्रवेश नहीं कर सके। इस पर उन्होंने इसकी घेराबंदी कर ली और तोपों और मस्कट आदि से प्रहार करने लगे, जिसके कारण कंपनी के लोगों की संख्या तेजी से कम होने लगी।

कानपुर पर विजय प्राप्त करने के बाद, हैवलॉक ने भी लखनऊ की ओर रुख किया। उसने पहले इस क्षेत्र पर अपनी पकड़ बनाई, लेकिन वह विद्रोहियों की शक्ति का सामना देर तक नहीं कर सका। वह स्वयं भी क्रांतिकारियों की घेराबंदी में बुरी तरह उन लोगों के साथ फंस गया जिन्हें

वह बचाने आया था। इसके बाद, अक्टूबर में कैंपबेल ने एक बहुत बड़ी सेना के साथ लखनऊ पर हमला किया। उसने इस किलेबंदी को सुरक्षित कर नया मोर्चा आलमबाग में बनाया और 4,000 सैनिकों की सुरक्षा में इसे छोड़कर कानपुर चला गया जहां उसने तात्या टोपे को हराया। इसके बाद वह मार्च 1858 में लखनऊ लौटा और इस बार उसके पास और भी बड़ी सेना थी जिसमें नेपाली सेना भी शामिल थी। 21 मार्च को उसके अंतिम हमले में विद्रोही सिपाही बिखर गए लेकिन हिम्मत न हारते हुए बहुत समय बाद भी गुरिल्ला हमले करते रहे।

चित्रः लखनऊ का सिकंदर बाग जो 1857 में भीषण युद्ध का साक्षी है।

लखनऊ में देशी सिपाहियों की नेता बेगम हजरत महल थी जो नवाब वाजिद अली शाह की पत्नी थी। उसका सेनापति मौलवी अहमदुल्ला भी बहुत वीरता से लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ। बेगम ने अपने आपको कमजोर पाते हुए नेपाल भागने का मार्ग अपनाया। इसके बाद अंग्रेजों ने अपने स्वभाव के अनुसार, बड़ी मात्रा में नरसंहार किया जिसमें महिलाओं और बच्चों तक को नहीं बख्शा गया। हर युद्ध के बाद वे अत्याचार और क्रूरता की नई ऊंचाई छू लेते थे।

झांसी

रानी लक्ष्मीबाई जैसी वीरांगना सदियों में एक बार पैदा होती है। जब मेरठ में हुई क्रांति का समाचार झांसी पहुंचा तो जून 1857 में 12वीं बंगाल देशी पैदल सेना ने झांसी के किले, खजाना और मैगजीन (तोपखाना) पर अधिकार कर लिया। इस संघर्ष में कुछ यूरोपियन अधिकारी और उनके परिजनों का हत्याकांड हुआ जिसके लिए लक्ष्मीबाई को दोष नहीं दिया जा सकता। इसके बाद देशी सिपाही वहां से चले गए। इस समय तक लक्ष्मीबाई का अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने का कोई विचार नहीं था।

अंग्रेजों के लौटने तक वह प्रशासक बन गई। इसके बाद ओरछा और दतिया की रियासतों ने झांसी को अपने बीच बांटने के लिए आक्रमण कर दिया। लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजों से मदद मांगी, लेकिन उन्होंने उन्हीं को उपरोक्त नरसंहार के लिए दोषी ठहराया और किसी प्रकार की मदद नहीं दी। इस पर लक्ष्मीबाई ने तोपों का निर्माण कर अगस्त 1857 में इन आक्रमणकारियों को मुंहतोड़ जवाब दिया। इस समय भी वह अंग्रेजों के विरुद्ध नहीं थीं।

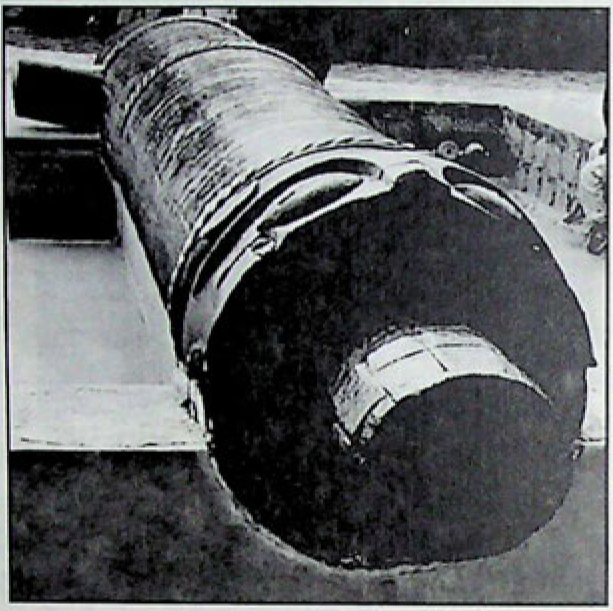

चित्रः झांसी के किले में प्रदर्शित कड़क बिजली नामक तोप।

इस समय अंग्रेज अन्यत्र स्थानों पर क्रांति को दबाने में लगे थे और उन्होंने झांसी को अनदेखा कर दिया। लक्ष्मीबाई यहां का प्रशासन संभालती रही, लेकिन अब वह और उनके सलाहकार स्वाधीनता के पक्ष में थे। अन्य स्थानों पर क्रूर अंग्रेजी कार्यवाही देखकर रानी ने दृढ़–निश्चय ठान कर किले पर बड़ी तोपों की तैनाती कर मजबूत किलेबंदी कर दी। अंग्रेजी सेना ने झांसी की घेराबंदी कर 21 मार्च 1858 को आक्रमण कर दिया, जिसका मुंहतोड़ जवाब रानी ने दिया। इस बीच, तात्या टोपे को मदद के लिए संदेश भेजा गया जो अपनी 20,000 की सेना के साथ आ गए, लेकिन वह भी अंग्रेजों की घेराबंदी को तोड़ नहीं पाए। इस बीच, अंग्रेजों ने किले को कुछ स्थानों से भेद दिया, जिसके कारण रानी संकट में आ गई और इस प्रकार उन्होंने किले को छोड़ने का निश्चय किया। घोड़े पर

सवार यह वीरांगना, पीठ पर अपने पुत्र को बांधे छोटी–सी ऐड़ लगाकर पहले चार फुट ऊंची दीवार को पार कर लगभग तीस फुट गहरी पथरीली, ऊबड़–खाबड़ ढलान पर कूद जाती है, मानो उन्हें अपने जीवन की कोई परवाह नहीं। अभी तक वह अंग्रेजों के पक्ष में थी, लेकिन अब जब वह उनके विरोध में आ गई थी तो कोई भी अवरोध इतना ऊंचा या गहरा नहीं था जिसे वह पार न कर सके। कहते हैं कि इस प्रकार कूदते हुए उनका बादल नामक घोड़ा वीरगति को प्राप्त हुआ था।

इसके बाद वह काल्पी गई जहां उनकी भेंट तात्या टोपे से हुई। उन्होंने इस पर अधिकार कर इसकी रक्षा की तैयारियां कीं। उनका सामना अंग्रेजी सेना से 22 मई को हुआ, जिसमें रानी हार गई, लेकिन साहस न हारते हुए उन्होंने ग्वालियर का रुख किया। वहां का राजा अंग्रेजों का पिछलग्गू था, वह उनके आने के नाम से ही भाग खड़ा हुआ। इस प्रकार, ग्वालियर पर रानी का आसानी से अधिकार हो गया। यहां उन्होंने नाना साहब को पेशवा और उनके भाई राव साहब को सूबेदार घोषित कर मराठा राज्य की नींव डाली।

जनरल रोज ने बड़ी सेना के साथ 16 जून को ग्वालियर पर हमला किया और इस पर अधिकार कर लिया। 17 जून को इतिहास ने रणचंडी को साक्षात् देखा। स्वयं रानी लक्ष्मीबाई एक हाथ में तलवार और दूसरे में घोड़े की लगाम पकड़कर, पीठ पर अपने पुत्र को बांधकर अपनी सेना का नेतृत्व करने मैदान में उतरी और ग्वालियर से लगभग 8 मील दूर अंग्रेजों का सामना किया। अपने से बड़ी और शक्तिशाली सेना का सामना उनकी सेना केवल अपने साहस से बड़ी मात्रा में आहुतियां देकर कर रही थी। रानी स्वयं भी घायल हो गई।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि वह जब मृत्यु का वरण करने वाली थी, उन्होंने एक संन्यासी को कहा था कि उनके शरीर को अंग्रेज हाथ न लगा पाएं और इसके साथ ही उन्होंने प्राण त्याग दिए। उसी संन्यासी ने अपनी झोंपड़ी में उनके शव को रखकर उनका अंतिम संस्कार कर दिया। ग्वालियर के निकट इस स्थान पर उनका स्मारक बना हुआ है जो हमें उनकी वीरता का सर्वदा स्मरण कराता रहेगा।

चित्रः रानी लक्ष्मीबाई के बलिदान स्थल पर उनकी समाधि, ग्वालियर

तात्या टोपे को एक स्थान से दूसरे स्थान पर छुपना पड़ा और वह अप्रैल 1859 में अंग्रेजों के हाथ लग गए। तब उन्हें फांसी पर चढ़ा दिया गया। उनकी मृत्यु के बारे में भी कुछ संदेह उठते हैं। कुछ लेखकों के अनुसार, उनकी मृत्यु इस प्रकार नहीं हुई, लेकिन 1857 की क्रांति के अनेक तथ्य रहस्य के गर्भ में ही हैं, उनमें से यह भी एक है। सच्चाई जो भी हो, उनके शत्रुओं ने भी उनकी प्रशंसा उन्मुक्त स्वर में की है।

जगदीशपुर (बिहार)

1857 की क्रांति में अपने प्राणों की आहुति डालने वाले वीरों के लिए आयु कोई व्यवधान नहीं थी। जब दानापुर (पटना) में देशी सिपाही अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़े हुए तो नेतृत्व के लिए उन्होंने जगदीशपुर की ओर कूच किया जहां के 80 वर्षीय वयोवृद्ध जमींदार कुंवर सिंह ने उनका नेता बनते हुए अंग्रेजों के विरुद्ध क्रांति का बिगुल फूंक दिया। सबसे पहले उन्होंने आरा पर आक्रमण कर अंग्रेजों की घेराबंदी की और उन्हें बचाने आई अंग्रेजी सेना को बुरी तरह हरा दिया, लेकिन बाद में पीछे हटते हुए उन्हें जगदीशपुर में शरण लेनी पड़ी। वहां भी भयंकर युद्ध हुआ जिसके बाद उन्होंने छापामार युद्ध को अपना लिया। अपनी सेना के साथ उन्होंने न केवल पश्चिमी बिहार में बल्कि अवध के क्षेत्र में भी लंबा मार्च किया और अनेक स्थानों पर अंग्रेजों को पानी पिलाया। इस लंबे मार्च के बाद उन्होंने वापस जगदीशपुर का रुख किया। जब वह नाव से गंगा पार कर रहे थे

तो पीछा करती अंग्रेजी सेना द्वारा दागे गए एक बम से उनका दायां हाथ घायल हो गया था। इस पर उन्होंने स्वयं ही कलाई से अपने हाथ को काटकर गंगा नदी को भेंट चढ़ा दिया। ऐसी अवस्था में ही साहस दिखाते हुए उन्होंने दोबारा जगदीशपुर पर अधिकार कर लिया। घाव व थकान के कारण दो दिन बाद 26 अप्रैल 1858 को इस महान स्वतंत्रता सेनानी ने स्वतंत्र रहते हुए अंतिम श्वास ली। उनके बाद उनके भाई अमर सिंह और अन्य साथियों ने इस क्रांति को एक वर्ष तक और जीवित रखा।

चित्रः जगदीशपुर संग्रहालय में लगा एक तैलचित्र कुंवर सिंह द्वारा अपने हाथ को काटकर गंगा नदी में अर्पित करते दिखाता है।

उपरोक्त स्थानों के अतिरिक्त, अनेकों स्थानों पर क्रांतिकारी अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़े हुए और वीरता की जो गाथाएं लिखीं, वे न केवल रोंगटे खड़े कर देती हैं, बल्कि हमारे ह्दय में हमारे पूर्वजों के लिए सम्मान को कई गुणा बढ़ा भी देती हैं। अनेक बलिदान अभी तक अज्ञात ही रहे हैं।

मेरठ

क्रांतिधरा कहे जाने वाले मेरठ की गाथा सबसे निराली रही। अनेक लोगों को प्रतीत होता है कि 10 मई 1857 को सिपाहियों द्वारा दिल्ली कूच करने के बाद यहां शांति बनी रही। सत्य यह है कि यहां के आमलोगों ने इसके बाद क्रांति की अलख न केवल जगाए रखी बल्कि उसकी लौ को अपने बलिदानों की अनगिनत आहुतियों से धधकाए रखा। यहां ऐसे अनेक

गांव हैं जहां के लोगों ने अंग्रेजों से आमने–सामने की टक्कर ली, उनमें से कुछ का संक्षिप्त वर्णन कर हम आपको उस समय की परिस्थितियों को समझने में सहायता कर सकते हैं। ये उदाहरण समुद्र में हिमखंड की उस छोटी चोटी के समान ही हैं जो बाहर से दिखाई देता है, लेकिन जल के भीतर वह कई गुणा विशाल होता है।

आप पढ़ चुके हैं कि क्रांति का आरंभ आम नागरिकों ने किया और सिपाही कुछ देर बाद इसमें जुड़े। 10 मई से 15 मई तक देशी सिपाहियों की अनुपस्थिति में ही आम नागरिकों ने अंग्रेजों के विरुद्ध मोर्चा संभाला। हालांकि अधिकांश घटनाएं छिटपुट थीं। कुछ का विस्तार अधिक था, जैसे सरधना में बाजार लूट लिया गया और सरकारी कर्मचारियों को खदेड़ दिया गया; कलंदर खान के नेतृत्व में बरनावा के क्षेत्र को अंग्रेजों से मुक्त करा लिया गया और उसे ही वहां का राजा भी घोषित कर दिया गया। अंग्रेज इन घटनाओं से इतना परेशान थे कि जनरल हेविट ने 13 मई को पूरे मेरठ में मार्शल लॉ लगा दिया। मेरठ में उपद्रव को दबाने के लिए रुड़की से देशी सिपाहियों (सैपर्स) की एक टुकड़ी लाई गई जो गंगनहर के मार्ग से 15 मई को यहां पहुंची थी। मेरठ के कमांडेंट फ्रेजर को भय था कि कहीं ये सिपाही भी विद्रोह न कर दें, इसलिए उसने उनके शस्त्र सुरक्षित रखने के नाम पर लेने आरंभ कर दिए, जिस पर सिपाही भड़क गए। एक सैनिक का पहला प्यार उसका शस्त्र होता है। फ्रेजर ने जब उन्हें समझाने की कोशिश की तो एक सिपाही ने उस पर गोली चला दी। इसके बाद थोड़ी और गोली–बारी हुई जिसमें और अंग्रेज भी मारे गए। इसके बाद, बागी सिपाही वहां से भाग निकले। निकट ही उपस्थित तोपखाने का मुंह इन सिपाहियों की ओर मोड़ दिया गया। इनमें से लगभग 50 की मृत्यु हो गई, अन्यों का पता नहीं चल पाया, और इसी के साथ इस टुकड़ी का अस्तित्व भी समाप्त हो गया। इसमें से बचे सिपाही शायद दिल्ली गए और अन्य बागी सिपाहियों के साथ जा मिले। इसके बाद, मेरठ में बाकी बचे देशी सिपाहियों से शस्त्र वापस ले लिए गए और उन्हें अन्य कामों में लगाया गया जैसे डाक बांटना, चिनाई करवाना, मेस में सहायता करना आदि।

जॉन विलियम काय ने इस घटना का वर्णन निम्न शब्दों में किया है–

> एक अफगान सिपाही ने अपने हथियार से कमांडेंट के पीछे से गोली चलाई और पीठ में गोली लगने के कारण फ्रेजर गिर पड़ा। दूसरों ने एड्जुटेंट मनसेल पर गोली चलाई लेकिन चूक गए, और फ्रेजर का देशी सहायक इस गोलीबारी में मारा

गया। यह करने के बाद विद्रोही बिखर कर भाग गए लेकिन उनकी विजय अल्पकालीन थी। कारबाइनर्स और घुड़सवार तोपखाने को उन पर छोड़ दिया गया। उनमें से अधिकांश भाग गए लेकिन लगभग पचास को छावनी से बाहर रेत के टीलों पर घेरकर मार दिया गया। इस प्रकार, रेजिमेंट के रूप में सैपर्स एंड माइनर्स का अस्तित्व मिट गया।

मेरठ में देशी सिपाहियों का विद्रोह शांत हो गया था, आम नागरिकों का नहीं। देश के अन्य भागों में क्रांति की घटनाओं में वृद्धि होने के कारण यहां स्थित यूरोपियन रेजिमेंटों को दिल्ली और अन्यत्र भेजा गया। सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए यहां थोड़ा–सा बल ही उपस्थित था। दिन बीतने के साथ मेरठ क्षेत्र के लोग उग्र होते जा रहे थे। नगर तुलनात्मक रूप से शांत था, लेकिन गांवों में लोग लगान देने से मना कर रहे थे व सरकारी कर्मचारियों पर हमले कर रहे थे। अंग्रेजों के लिए यह परीक्षा की घड़ी थी क्योंकि यह वार्षिक लगान का समय भी था।

इस बीच, दिल्ली को भेजी जाने वाली सैनिक टुकड़ियों को मेरठ में एकत्रित कर दिल्ली पर आक्रमण के लिए भेजा गया। इस सेना में बंदूकधारी और तोपखाने सहित लगभग 1300 सैनिक थे। वे मेरठ से 27 मई को चले और 30 तारीख को हिंडन नदी पर ही पहुंचे थे। एक प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि जब 10 मई को देशी सिपाहियों ने मात्र एक रात में यह रास्ता नाप लिया था तो इस सेना को इतना अधिक समय क्यों लग रहा था? इसका उत्तर यह है कि यह बल रास्ते में पड़ने वाले सभी गांवों को जलाता जा रहा था। वे ग्रामीणों को एकत्र कर उनके चारों ओर आग लगा देते थे, जो भागने का प्रयास करता था, उसे गोली मार देते थे। इस कुकृत्य में उन्होंने महिलाओं और बच्चों की भी निर्मम हत्याएं कीं। यह ऐसा घोर अत्याचार था जिसका वर्णन सारे नकारात्मक विशेषण मिलकर भी नहीं कर सकते।

इस त्राहिमाम का समाचार दिल्ली पहुंच चुका था। मेरठ से तो दिल्ली की ओर अंग्रेजी सेना आ ही रही थी, अंबाला की ओर से भी सेना आ रही थी, और यदि ये दोनों सेनाएं मिल जातीं तो दिल्ली की सुरक्षा करना असंभव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य हो जाता। इसलिए दिल्ली में क्रांतिकारी सेना ने निश्चय किया कि मेरठ से आने वाली सेना का सामना हिंडन के रेतीले तट पर किया जाए। इस प्रकार मेरठ का पहला युद्ध 30 मई को

हुआ। यह सेना अंग्रेजों का सामना नहीं कर पाई, इसके सिपाही बिखर गए और उन्होंने आसपास के गांवों में शरण ली, जिन्हें अंग्रेजों ने बमबारी कर नष्ट कर दिया।

जॉन विलियम काय ने अपनी पुस्तक में इस युद्ध में दोनों पक्षों द्वारा दिखाई गई वीरता का वर्णन किया है। वह लिखता है कि यद्यपि अंग्रेजी सेना जीत गई थी, लेकिन वह पहले से कहीं अधिक भयभीत थी, क्योंकि देशी सिपाही तो मानो बलिदान करने के लिए ही लड़ रहे थे। इसका एक उदाहरण था जिसमें एक देशी सिपाही ने अपनी मस्कट को अंग्रेजों की एम्यूनिशन वैगन (बारूद गाड़ी) में खाली कर विस्फोट कर दिया था, जबकि उसे पता था कि इसमें उसकी अपनी मृत्यु निश्चित थी। वह लिखता है–

> इस घटना ने हमें दिखाया कि विद्रोहियों के मध्य कुछ वीर और दृढ़–निश्चयी लोग थे जो अपने राष्ट्रीय हित के लिए तत्काल मृत्यु का आलिंगन करने को तैयार थे। इस प्रकार की वीरता के कारनामे युद्ध इतिहास को चमका देते हैं, और निश्चित रूप से ऐसे अनेक कारनामे किए गए थे जिनका इतिहास में कोई वर्णन नहीं है।

पिछले दिन की पराजय के बाद भी देशी सिपाहियों ने अगले दिन फिर अंग्रेजों पर हमला किया और उन्हें बहुत हानि पहुंचाई जो तपती रेत के कारण ढंग से लड़ नहीं पा रहे थे। इस दिन देशी सिपाहियों का साथ देने बड़ी मात्रा में आमलोग भी आ गए थे। इस बार भी वे शक्तिशाली अंग्रेजों का सामना नहीं कर सके। उन्हें पीछे हटना पड़ा, लेकिन इस बार वे योजित ढंग से पीछे हटे और अपनी तोपों और अन्य संसाधनों को अपने साथ सुरक्षित लेकर दिल्ली चले गए।

दूसरे दिन के इस युद्ध में बागी सिपाहियों का साथ देने शाहमल भी आ गया था। यह जाट नेता वर्तमान बागपत जिले की बड़ौत तहसील के बिजरौल गांव का रहने वाला था। मेरठ में क्रांति का समाचार मिलने पर उसने भी अंग्रेजों के खिलाफ आवाज उठाने का निश्चय किया। वह केवल इस बात से संतुष्ट नहीं था कि लगान नहीं दिया जाए, वह तो पूरी तरह विद्रोह करना चाहता था। अभिलेखों के अनुसार, मथुरा में हुई गुप्त बैठक में वह भी शामिल था। उसने अपनी सेना का गठन कर लिया और 12–13 मई को अपनी किसान सेना के साथ बड़ौत तहसील पर हमला कर दिया। इसमें वह सफल नहीं हो सका लेकिन सरकारी खजाना उसके

कब्जे में आ गया। इसके बाद पुलिस चौकी पर हमला कर वहां के हथियार कब्जा लिए। इस प्रकार इस किसान सेना के पास कुछ बंदूकें भी आ गईं, जबकि इससे पहले वह केवल तलवारों, बल्लम और लाठियों से ही काम चला रही थी। एक सप्ताह के भीतर ही उसने 84 गांवों पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। क्रांति को विस्तार देने के लिए उसने अपने दूत को दिल्ली बादशाह के पास भेजा जिसने शाहमल को हिंडन के उत्तरी भाग का सूबेदार बना दिया। उसने क्रांतिकारी सेना को आपूर्ति देना आरंभ कर दिया और बड़ौत के सिंचाई विभाग को अपना मुख्यालय बनाया। उसकी सेना का आकार भी बढ़ना आरंभ हो गया। उसे अपनी सीमित शक्ति का अहसास था, इसलिए वह गुरिल्ला युद्ध पद्धति को अपना कर अंग्रेजों को परेशान कर रहा था। जुलाई के प्रथम सप्ताह में वह अपने 2000 सेनानियों के साथ अंग्रेजों से सीधे युद्ध में जा टकराया और उन्हें पीछे हटने पर मजबूर कर दिया।

शाहमल को समाप्त करने के उद्देश्य से अंग्रेजों ने खाकी रिसाला भेजा। आम विद्रोह को दबाने के लिए अंग्रेजों ने एक अवैध काम किया और वह था खाकी रिसाला (ड्रागून या घुड़सवार तोपखाना) बनाना। इसे हम अवैध इसलिए कह रहे हैं क्योंकि यहां के कमांडर को केवल रक्षा के लिए सेना का प्रयोग करने के आदेश मिले थे, लेकिन मेरठ के मजिस्ट्रेट और कलेक्टर डनलप ने कमीश्नर के साथ मिलकर इस बर्बर बल का गठन किया। इस बल में मुख्य रूप से यूरोपियन सैनिक और कुछ तोपें होती थीं। यह निरंकुश बल जिस गांव में भी पहुंचता, उसे पूरी तरह नष्ट कर देता, लोगों को जलाकर या पेड़ों पर फांसी चढ़ाकर मार डालता। अब खाकी रिसाला का लक्ष्य शाहमल था और इसलिए यह बड़ौत में आया। यहां पहले शाहमल की छोटी टुकड़ी ने इस पर हमला किया, लेकिन सफल नहीं होने पर वह स्वयं अपनी सेना का नेतृत्व करने युद्ध मैदान में आ डटा। घोड़े पर सवार शाहमल ने देर तक अपने जुझारू मनोबल का प्रदर्शन किया, लेकिन दुर्भाग्य से उसकी पगड़ी खुलकर घोड़े के पैरों में लिपट गई और वह गिर पड़ा, जिस पर उसका सिर काट लिया गया। न केवल यह, एक बल्लम पर कटे सिर को टांगकर घुमाया गया। इस युद्ध को मेरठ का द्वितीय युद्ध कहा जाता है।

इसी प्रकार का विरोध सरधना में नरपत सिह ने किया। अकलपुरा गांव के इस निवासी ने लगान देने से मनाकर अंग्रेजों को अपने गांव से भगा दिया। उसने सरधना तहसील पर भी हमला किया लेकिन सफल नहीं हो

पाया। उसने गांव में किलेबंदी कर ली जिससे अंग्रेज गांव में घुस नहीं पा रहे थे। अततः उन्हें तोपों की तैनाती करनी पड़ी जिसके कारण गांव में बहुत बर्बादी हुई। जब खाकी रिसाला गांव में घुसा तो उसने किसी को भी जीवित नहीं छोड़ा। सैकड़ों शवों के बीच एक शव नरपत सिंह का भी था।

मेरठ की मवाना तहसील में राव कदम सिंह ने स्वयं को परीक्षतगढ़ और मवाना का राजा घोषित कर दिया। 1803 ई. में जमीन में दबाई गई तोपों को निकालकर किले पर तैनात कर दिया गया। उसके पास 10,000 सेनानी बताए जाते हैं जो सभी सफेद पगड़ी पहना करते थे। कदम सिंह परीक्षतगढ़ रियासत के आखिरी राजा नैनसिंह के भाई का पौत्र था। इस रियासत पर अंग्रेजों ने 1818 में अधिकार कर लिया था। उसने बरेली के क्रांतिकारियों से भी संपर्क साध लिया और विस्तृत स्तर पर अभियान चलाने की योजना बनाने लगा। उसकी अप्रैल 1858 तक की क्रांतिकारी गतिविधियों का पता चलता है, उस समय वह बिजनौर के नवाब महमूद खान के साथ मेरठ पर आक्रमण की तैयारी कर रहा था। बरेली में क्रांतिकारियों की हार के बाद महमूद खान को पकड़ लिया गया। उसके बाद राव कदम सिंह का क्या हुआ, इस बारे में कोई सूचना नहीं मिलती।

मेरठ–दिल्ली मार्ग पर स्थित ग्राम सीकरी खुर्द भी इसी प्रकार की क्रांतिकारी गतिविधियों का केंद्र बना। वहां के टुंडा सिंह चंडेला के नेतृत्व में नवयुवकों की एक सेना को दिल्ली भेजा गया, लेकिन मार्ग में अंग्रेजों से टकराव के कारण इन्हें वापस गांव में लौटना पड़ा। उसके बाद उन्होंने निकटस्थ बेगमाबाद ट्रेजरी (खजाना) को लूट लिया और गांव की सीमा पर किलेबंदी कर दी। खाकी रिसाला ने जब हमला किया तो इस गांव का एक–एक व्यक्ति जो शस्त्र उठा सकता था, इस स्वतंत्रता संग्राम में आहूत हो गया। उसके बाद गांव की एक इमारत घनघोर संघर्ष की गवाह बनी। शेष बचे बूढ़ों और बच्चों ने गांव के मंदिर के तहखाने में शरण ली। अंग्रेजों ने उन्हें खोज निकाला और सभी को मंदिर प्रागंड़ में ही स्थित वट्वृक्ष पर फांसी से लटका दिया। फांसी दिए जाने वाले शहीदों की संख्या 131 बताई जाती है। आज यह महामाया मंदिर के नाम से प्रसिद्ध भव्य मंदिर है, वहां स्थित देवी की प्रतिमा उस बर्बरता की स्वयं साक्षी है। इस घटना के बाद यहां की महिलाओं ने भी सती होकर आत्मबलिदान दे दिया। जिस खेत में यह घटना हुई उसे 'सतियों का खेत' कहा जाता है।

चित्रः 1857 क्रांति के बलिदानियों को समर्पित स्मारक, मेरठ।

यदि मेरठ के सभी क्रातिकारी गांवों का वर्णन करना आरंभ करें तो यह अंतहीन कहानी बन जाएगी। ऐसे बलिदान जिन गांवों में हुए उनमें से कुछ हैं – गगोल, पांचली खुर्द, बिजरौल, बसोद, धौलाना, सरधना, इक्तियापुर, अकलपुरा, नगला, बहसूमा, सिसाना, बाघु, टीकरी, सिंघावली, बालैनी और अन्य। 1857 की क्रांति ने जनमानस पर ऐसे निशान छोड़े हैं जो आज भी यहां के निवासियों को चुभते हैं, उन्हें याद करती गीली आंखों को आज भी देखा जा सकता है। बसोद जैसे क्रांतिकारी गांव तो उस समय ऐसी त्रासदी से गुजरे थे कि वे आज तक भी उस विनाश से उभर नहीं पाए हैं।

इस विस्तृत क्रांति के प्रभाव भी विस्तृत थे। एक वर्ष में काफी सीमा तक इस क्रांति को अंग्रेजों ने बर्बरतापूर्वक, निर्ममतापूर्वक, क्रूरतापूर्वक दबा दिया, और दो वर्ष में यह पूरी तरह समाप्त हो गई, लेकिन आने वाले समय में इसने भारतीय स्वाधीनता संग्राम की नींव रखी जो अंततः 1947 में हमारे देश के लिए स्वाधीनता का वाहक बना। संतों की यह भविष्यवाणी भी सत्य सिद्ध हुई कि प्लासी के युद्ध के सौ साल बाद कंपनी राज समाप्त हो जाएगा। इसके बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत का प्रशासन सीधा अपने हाथों में ले लिया।

आरंभ होने से पहले ही स्वामी दयानंद ने इस क्रांति की सफलता पर संदेह जताया था और बाद में इसे 'पल्लवग्राही' अर्थात् पत्तों को सींचने वाली क्रांति बताया था क्योंकि उन्होंने देखा था कि भारतीय लोग संगठित नहीं थे। आज हम स्वाधीन हैं लेकिन जाति, धर्म, भाषा आदि के नाम पर हममें अलगाव के बीज बो दिए गए हैं। एकता के बिना शक्तिशाली भारत का सपना काल्पनिक बना रहेगा, इसके लिए भी शायद एक बड़ी क्रांति की आवश्यकता होगी।

परिशिष्ट

परिशिष्ट 'क'

क्रांति–गीत

हम हैं इसके मालिक, यह हिंदुस्तान हमारा।
पाक वतन है कौम का, जन्नत से भी प्यारा।।
यह है हमारी मिल्कियत, हिंदुस्तान हमारा।
इसकी रूहानियत से रोशन है जग सारा।।
कितना कदीम, कितना नईम, सब दुनिया से न्यारा।
करती हैं जर्खेज जिसे गंगा–जमना की धारा।।
ऊपर बर्फीला पर्वत पहरेदार हमारा।
नीचे साहिल पर बजता सागर का नक्कारा।।
इसकी खानें उगल रही हैं सोना हीरा पारा।
इसकी शानो–शौकत का दुनिया में जयकारा।।
आया फिरंगी दूर से ऐसा मंतर मारा।
लूटा दोनों हाथों से प्यारा वतन हमारा।।
आज शहीदों ने तुम को ए अहले वतन पुकारा।
तोड़ गुलामी की जंजीरें, बरसाओ अंगारा।।
हिन्दू, मुस्लिम, सिख, हमारा भाई प्यारा–प्यारा।
यह है आजादी का झंडा, इसे सलाम हमारा।।

नोटः 1857 की क्रांति में यह गीत सिपाहियों और अन्य क्रांतिकारियों के बीच लोकप्रिय था। इसके बोल से स्पष्ट होता है कि ये क्रांतिकारी किसी धर्म या पंथ के लिए नहीं अपने आदर्श राष्ट्र के लिए लड़ रहे थे।

परिशिष्ट 'ख'

दंडित 85 सिपाहियों की सूची

हवलदार मातादीन	नायक शेख पीर अली
नायक अमीर कुदरत अली	नायक शेख हुसैनुद्दीन
नायक शेख नूर मुहम्मद	शीतल सिंह
जहांगीर खां	मीर मौसिम अली
अली नूर खां	मीर हुसैन बक्श
मथुरा सिंह	नारायण सिंह
लाल सिंह	श्योदान सिंह
शेख हुसैन बक्श	साहिब दाद खां
बिशन सिंह	बलदेव सिंह
शेख नंदू	नवाब खां
शेख रमजान अली	अली मुहम्मद खान
मक्खन सिंह	दुर्गा सिंह (प्रथम)
नसुरल्ला बेग	मेहराब खान
दुर्गा सिंह (द्वितीय)	नबी बक्श खां
जुरकान सिंह (प्रथम)	जुरकान सिंह (द्वितीय)
भुदगु खान	अब्दुल्ला खां
अहसान खां	जबरदस्त खां
मुर्तजा खां	बलजोर सिंह
अजीमुल्ला खां (प्रथम)	अजीमुल्ला खां (द्वितीय)
कल्लन खां	शेख सादूल्ला
सलार बक्श खां	शेख राहत अली
द्वारिका सिंह	कालका सिंह

रघुवीर सिंह	बलदेव सिंह
दर्शन सिंह	इमदाद हुसैन
मुराद पीर खां	मोती सिंह
शेख फजल इमाम	हीरा सिंह
सेवा सिंह	मुराद पीर खां
शेख आराम अली	काशी सिंह
अशरफ अली खां	कादर दाद खां
शेख रुस्तम	भगवान सिंह
मीर इमदाद बक्श	शिव बक्श सिंह
लक्ष्मण सिंह	शेख इमाम बक्श
उस्मान खां	दरयाब सिंह
मकसूद अली खां	शेख घासी बक्श
शेख उम्मेद अली	अब्दुल बहाब खां
राम सहाय सिंह	पनाह अली खान
लक्ष्मण दूबे	रामशरण सिंह
शेख ख्वाजा अली	शिव सिंह
शीतल सिंह	मोहन सिंह
विलायत अली खां	शेख मुहम्मद ऐजाज
इंदर सिंह	फतह खां
मैकू सिंह	शेख कासिम अली
राम सरन सिंह	

ग्रंथ सूची

हिन्दी पुस्तकें

- आचार्य दीपांकर कृत *स्वाधीनता आंदोलन और मेरठ*, जनमत प्रकाशन, मेरठ।
- रेखा जैन कृत *स्वाधीनता संग्राम*, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया।
- विजय कुमार गुप्ता कृत *भारत की महान क्रांतिकारी महिलाएं*, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली।
- राजयोगी आचार्य भद्रकाम वर्णी द्वारा संपादित *योगी का आत्मचरित्र*, आर्यसमाज मंदिर, दिल्ली।
- इं. आदित्यमुनि वानप्रस्थ और डॉ. वेदव्रत 'आलोक' द्वारा संपादित *अपना जन्मचरित्र*, गंगा प्रकाशन मंदिर, भोपाल।
- इं. आदित्यमुनि वानप्रस्थ कृत *जन्मतिथि*, गंगा प्रकाशन मंदिर, भोपाल।
- इं. आदित्यमुनि वानप्रस्थ कृत *दयानंद–दिवाकर*, गंगा प्रकाशन मंदिर, भोपाल।
- कमलादत्त पांडेय द्वारा संपादित *हिन्दू पंच बलिदान अंक*, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया।
- दीवान बहादुर हरबिलास शारदा कृत *विश्व गुरु स्वामी दयानंद का जीवन चरित एवं उनकी शिक्षायें*, श्री घूड़मल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास, हंडौन सिटी (राजस्थान)।
- इं. आदित्यमुनि वानप्रस्थ कृत *अज्ञात जीवन*, गंगा प्रकाशन मंदिर, भोपाल।
- बी.के. सिंह कृत *स्वामी दयानंद*, नेशनल बुक ट्रस्ट, इडिया।
- दीपचंद्र निर्मोही कृत *कालजयी संत*, सर्वकल्याण धर्मार्थ न्यास, पानीपत।

- वि.स. वालिंबे कृत *1857 का संग्राम,* नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया।
- विनायक दामोदर कृत *1857 का स्वातंत्र्य समर,* प्रभात पेपरबैक्स; नई दिल्ली।
- पी.सी. जोशी द्वारा संपादित *इंकलाब 1857,* नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया।
- लाला लाजपत राय कृत *तरुण भारत,* नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया।
- महर्षि दयानंद सरस्वती कृत *सत्यार्थ प्रकाश,* आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली।
- डॉ. निधि शर्मा कृत *1857,* भारत ज्ञान विज्ञान समिति, नई दिल्ली।
- डॉ. मनोज कुमार गौतम कृत *भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन सतत् प्रयास,* राजकीय स्वतंत्रता संग्राम संग्रहालय, मेरठ।
- आर्यमुनि वानप्रस्थ, *महर्षि स्वामी दयानंद का मेरठ प्रवास,* आचार्य विश्वबंधु मानव सेवार्थ न्यास, मुजफ्फरनगर, उ.प्र.।
- रिजवी, सईद अतहर अब्बास कृत *स्वतंत्र दिल्ली,* उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
- ए.के. गाँधी कृत *1857 क्रांति व क्रांतिधरा,* नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया।

अंग्रेजी पुस्तकें

- आर.सी. मजूमदार, एच.सी. रायचौधरी और कालीकिंकर दत्ता कृत *एन एड्वांस्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* मैकमिलन।
- डा. दत्ता, के.के. कृत *अनरेस्ट एगेन्स्ट दें ब्रिटिश रूल इन बिहार 1831–1859,* सेक्रेटेरिएट प्रेस, पटना, 1917।
- ट्रेवील्यान, जी.ओ. कृत *दें कंपीटीशन वाला,* मैकमिलन एंड कं, 1866।
- डॉ. अब्दुल कलाम, ए.पी.जे. कृत *इग्नाइटेड माइंड्स*।
- श्रीकुमार, ए.के. कृत *आवर लीडर्स,* चिल्ड्रन्स बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।
- हेनरी जॉर्ज कीने कृत *फिफ्टी सेवन – सम एकाउंट ऑफ दें एडमिनिस्ट्रेशन इन इंडियन डिस्ट्रिक्ट्स ड्युरिंग दें रिवॉल्ट ऑफ दें बंगाल आर्मी,* डब्ल्यू.एच. एलन एंड कंपनी, लंदन, 1883।
- आर.के. टंडन कृत *हैंग्ड फॉर देअर पेट्रीओटिज्म,* नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया।
- बी.आर. अग्रवाल कृत *ट्रायल्स ऑफ इंडीपेंडेंस,* नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया।

- इकबाल हुसैन कृत *बख्त खान*, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया।
- जॉन विलियम काय कृत *ए हिस्ट्री ऑफ ग्रेट रिवॉल्ट*, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस।
- मधुकर उपाध्याय कृत *1857 दें ग्रेट मार्च मेरठ टू देल्ही*, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।
- एल. पी. शर्मा कृत *हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इंडिया*, कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली।
- डॉ. अमित पाठक कृत *1857 लिविंग हिस्ट्री*, उ. प्र. राजकीय संग्रहालय, झांसी।
- एच. आर. नेविल, आई.सी.एस. द्वारा संकलित और संपादित *मेरठ ए गेजेटियर, डिस्ट्रिक्ट गेजेटियर्स ऑफ दें यूनाइटेड प्रोविंसेज ऑफ आगरा एंड अवध*, वोल्यूम चार, 1904।
- सर चार्ल्स नेपियर के अधीन सेवक कृत *दें म्यूटिनी ऑफ बंगाल आर्मी*, बॉसवर्थ एंड हैरिसन, लंदन, 1858।
- शारदा, हरबिलास कृत *लाइफ ऑफ दयानंद सरस्वती*, अजमेर, 1946।
- काय, जे.डब्ल्यू. कृत *ए हिस्ट्री ऑफ दें सिपॉय वॉर इन इंडिया*, 4 भागों में, लॉगमैन्स, ग्रीन एंड कंपनी, 1896।
- काय, जे.डब्ल्यू., व मालेसन, जी.बी. कृत *इंडियन म्यूटिनी ऑफ 1857–58*, डब्ल्यू.एच. एंड कंपनी, लंदन, 1889।
- पंचकौड़ी खान, कृत *दें रेवेलेशन्स ऑफ एन आर्डरली*, ई.जे. लेजारस एंड कंपनी, 1866।
- मैक्स मुलर, एफ. कृत *आउल्ड लैंग साइन (माई इंडियन फ्रेंड्स)*, चार्ल्स स्क्रिबनर एंड संस, न्यू यार्क, 1899।
- के.के. दत्ता कृत *बायोग्राफी ऑफ कुंवर सिंह एंड अमर सिंह*, के.पी. जायसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पटना, 1957।
- ब्लावट्स्की, हेलेना पेट्रोवना कृत *फ्रॉम दें केव्ज एंड जंगल्स ऑफ हिंदोस्तान*, दें थियोसोफिकल पब्लिशिंग सोसायटी, लंदन, 1908।
- *नेहरू एंड आजाद ऑन 1857*, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 2008।
- हरिकृष्ण देवसरे कृत *नाना साहेब पेशवा*, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 2011।

- हरिकृष्ण देवसरे कृत *तात्या टोपे*, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 2011।
- विलियम डेलरिंपल, कृत *दँ लास्ट मुगल*, पेंग्विन रेंडम हाउस, 2006।
- चंद्र, बिपिन कृत *हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इंडिया*, ओरियंट ब्लैकस्वैन, 2009।
- अहीर, राजीव, आई.पी.एस. कृत *ए ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इंडिया*, स्पेक्ट्रम बुक्स प्रा लिमिटेड, 2014।
- श्योरे, इंदूमति कृत *तात्या टोपे*, नेशनल बुक ट्रस्ट, 1973।

वह साधु, जिसे समकालीन दस्तावेज हिन्दू फकीर बताते हैं, अपने घर से भाग निकला था एक उच्च प्रयोजन को सिद्ध करने, लेकिन ऐसा करने में उसके मार्ग में अड़चन बनी थी वह मांग कि उसे पहले अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ना होगा, लेकिन वह ऐसा करना नहीं चाहता था। जब अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए उसे कोई अन्य मार्ग नहीं मिला तो वह उठ खड़ा हुआ साम्राज्यवादी ईस्ट इंडिया कंपनी के विरुद्ध, और बिना शस्त्र उठाए ही उसने उसका राज समाप्त करने के लिए उस क्रांति को धरातल पर उतारा –

- वह क्रांति जिसे हम जानते हैं प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के नाम से।
- वह क्रांति जिसमें अपने प्राणों की आहुति डालने वाले लोगों की संख्या हजारों में नहीं, लाखों में है।
- वह क्रांति जिसने आने वाले समय में हमारे स्वाधीनता संग्राम के प्रेरणा–स्रोत के रूप में काम किया।
- वह क्रांति जिसने हमारे देश को एक नई दिशा प्रदान की।

इससे भी अधिक रोमांचक है वह तथ्य जब उसकी योजना विफल हो गई। तब उसने क्या किया? क्या वह अपने उद्देश्य में सफल हुआ?

कौन था वह रहस्यमयी साधु? उसने अपनी पहचान पूरी तरह से गुप्त बनाए रखी, लेकिन क्यों? इतने महत्त्वपूर्ण योगदान का श्रेय उसने क्यों नहीं लिया?

शोध–आधारित इस पुस्तक में अनेक ऐसे रहस्य खुलेंगे जो आपको दाँतों–तले उंगली रखने को विवश कर देंगे।

ए. के. गांधी सुविख्यात इतिहासकार, लेखक व अनुवादक हैं। वह दोनों हिन्दी व अंग्रेजी में लिखते हैं। इतिहासकार के रूप में उनकी कुछ पुस्तकें हैं – '1857 क्रांति व क्रांतिधरा' (राष्ट्रीय पुस्तक न्यास), 'प्रताप, शिवाजी और छत्रसाल' (मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, यह दो वर्ष तक राज्य के पाठ्यक्रम में रही), 'भारतीय थल सेना–बढ़ते कदम' (किताबघर) व *Dance to Freedom* (फिंगरप्रिंट्स)। उन्होंने अनेक व्यापारिक व्यक्तित्वों, राजनेताओं और खिलाड़ियों की जीवनियां लिखी हैं जिनमें स्वामी रामदेव, इंद्रा नूयी, रतन टाटा, अब्दुल कलाम व अन्य अनेक सम्मिलित हैं। मुकेश अंबानी पर उनकी जीवनी को इकॉनॉमिक टाइम्स ने प्रथम स्थान दिया था और आजतक रेडियो ने सुचेता कृपलानी पर उनकी जीवनी पर कार्यक्रम किया था। दैनिक जागरण, अमर उजाला आदि समाचार–पत्रों ने उन पर लेख भी लिखे हैं। लेखक के रूप में उनकी कुछ प्रसिद्ध पुस्तकों में ***Language Across the Curriculum, Understanding Disciplines and Subjects, Text Reading and Reflection*** आदि सम्मिलित हैं। अनुवादक के रूप में उन्होंने अनेक पुस्तकों पर कार्य किया है जिनमें 'रेजांग ला का युद्ध' (पेंग्विन–NBT), ज्योतिपुंज (नरेंद्र मोदी द्वारा लिखित, प्रभात प्रकाशन), गोंड (राष्ट्रीय पुस्तक न्यास) व अन्य अनेक शामिल हैं। वह प्रधानमंत्री युवा लेखन योजना के अंतर्गत मेंटोर भी रहे हैं और उनके निर्देशन में तीन युवा लेखकों की पुस्तकें राष्ट्रीय पुस्तक न्यास से प्रकाशित हो चुकी हैं।

उमेश भारद्वाज कृत
१८
५७
डायरी
निर्माता बी. एन. एफ फिल्म्स
महर्षि दयानंद और
1857 क्रांति
पर आधारित हिंदी फीचर फिल्म
अति शीघ्र
आपके सिनेमाघरो में

ISBN 978-81-269-3953-4
9 788126 939534
₹ 395.00

ATLANTIC
PUBLISHERS & DISTRIBUTORS
www.atlanticbooks.com